

जन-जन गीता

(श्री राधेश्याम रामायण तर्ज पर)

कृतिकार - सत्य प्रकाश सक्सेना

ॐ जन-जन गीता ॐ

(श्री राधेश्याम रामायण तर्ज पर)

कृतिकार - सत्य प्रकाश सक्सेना

सहधर्मिणी स्व० श्रीमती चन्द्र लता सक्सेना

की पुण्य स्मृति में समर्पित।



जन्म-दिनांक २-८-१९४१
बैकुण्ठवास-दिनांक ११-६-२००४

जिन्दगी के तो माने ही कुछ और हैं,
सांस लेना फ़कत ज़िन्दगानी नहीं।
बस तुझी से शुरू थी मेरी ज़िन्दगी,
बिन तेरे मेरी कोई कहानी नहीं।।

* *

अशोक कान्त
आलोक कान्त (पुत्रगण)

समर्थ, श्रेष्ठ (पौत्रगण)

सत्य प्रकाश सक्सेना (पति)
पुत्र स्व0 श्री लाल बहादुर सक्सेना
नि0 ग्राम मिहौना, डा0 संजरपुर,
जिला बदायूँ (उ.प्र.)
सम्पर्क : 5932002233

ॐ



परमात्मा का विश्व-रूप



परम पिता को सब देवों का नमस्कार

ॐ



'वासुदेवः सर्वम्'

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

भगवान सब में व्याप्त हैं

ॐ

जन-जन गीता

(श्री राधेश्याम रामायण तर्ज पर)

कृतिकार - सत्य प्रकाश सक्सेना

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

भगवान श्रीकृष्ण

जन-जन गीता

(श्री राधेश्याम रामायण तर्ज पर)

कृतिकार -
सत्य प्रकाश सक्सेना

मुद्रक एवं प्रकाशक :

देवा प्रिन्टर्स, लखनऊ

अलंकरण :

दीपक शर्मा

मो० 9415616012

प्रथम संस्करण :

जुलाई : 2010

प्रतियाँ :

1000

प्रसार योगदान राशि :

रु० 42/- मात्र

पुस्तक प्राप्ति-स्थान :

चन्द्र लता कुटी, 529क / 756, गुल्शन एन्क्लेव,
निकट राजा टैन्ट हाउस, रिंग रोड क्रासिंग, खुर्रम नगर, लखनऊ
सम्पर्क : मो० 5932002233

ॐ

अनुक्रमणिका



॥ ओ३म् ॥

आर्यरत्न, आचार्य डॉ० विशुद्धानन्द मिश्र

वेदार्थ कल्पद्रुम प्रणेता

निवास : वेद मन्दिरम्, कूँचा पांडा, बदायूँ
दूरभाष : ०५८३२-२२२३५८

- अध्यक्ष, धर्मार्य-सभा, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-११०००१
- महामहिम राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जी द्वारा सम्मानित
- अखिल भारतीय-वेद-वेदांग-पुरस्कार से सम्मानित (मुम्बई)
- पूर्व-कुलपति तथा सदस्य (भारत सरकार द्वारा मनोनीत), राष्ट्रीय-संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
- गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा सर्वोच्च पूजोपाधि विद्यामार्तण्ड (डॉक्ट्रेट) से अलंकृत
- श्री विक्रम प्रतिष्ठान (संयुक्त राज्य अमेरिका) से सम्मानित
- सदस्य-उ०प्र० संस्कृत अकादमी (महामहिम राज्यपाल द्वारा मनोनीत)
- संस्कृत-संस्थानम् उ०प्र० के विशिष्ट-पुरस्कार से सम्मानित
- श्रीराव हरिशचन्द्र आर्य, चेरोटेबिल ट्रस्ट, नागपुर, महाराष्ट्र द्वारा अनूचान-साहित्य-पुरस्कार से सम्मानित
- श्री गंगेश्वरानन्द वेद-वेदांग-राष्ट्रीय-पुरस्कार-नासिक, महाराष्ट्र से सम्मानित

पत्रांक................ दिनांक.............

मैने स्वनाम धन्य भाई सत्य प्रकाश सक्सेना जी की काव्य कृति का अवलोकन किया है और मुझे यह प्रमाणित करते हुये प्रसन्नता है कि सत्य प्रकाश जी ने कवि धर्म का निर्वाह करने के साथ साथ गीता जैसे दर्शन के गूढ़ ग्रन्थ की भाव भूमि के सम्मान की सम्यक् रक्षा की है।

श्री कृष्ण युग पुरूष हैं भारत के जन–मानस में वह रसेश्वर एवं योगेश्वर दोनों रूपों में गहरी पैठ बनाये हुये हैं। भारत की जनता उन्हे 16 कलाओं का अवतार मानती है। वह लीला पुरूषोत्तम के रूप में स्वीकार्य हैं उनकी वाणी लोकमंगलकारी है।

ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग की त्रयी के सम्यक् सूत्रधार हैं श्री कृष्ण। उन्होने कर्तव्य से विमुख हो रहे अर्जुन को कर्तव्य पथ पर दृढ़ता से अग्रसर होने का उपदेश देकर मानवता को एक अति महत्वपूर्ण संदेश दिया है।

गीता कृष्ण अर्जुन संवाद की शैली में लिखा गया एक महाकाव्य है पर उसके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आने वाली विविध समस्याओं का समाधान सुलभ होता है। श्री कृष्ण श्रेष्ठतन आर्य हैं और वह आर्य जीवन के मूल्यों का अनुशीलन करते हुये अविचलित रहकर जीवन संग्राम में उतरने और विजयी होने का संदेश देते हैं।

श्री सत्य प्रकाश सक्सेना ने गीता के दर्शन और मानव मूल्यों को सरल भाषा में प्रस्तुत कर एक महान उपकार किया है। राधेश्याम तर्ज़ में गेय होने के कारण यह जन–जन तक पहुँचेगी ऐसा मेरा विश्वास है

मैं श्री सत्य प्रकाश सक्सेना के इस सत्प्रयास की भूरि भूरि प्रशंसा करता हूँ और उन्हे आजीवन कियाशील रहने का आशीर्वाद देते हुये सतत और अनवरत कुछ लिखते रहने के लिये अभिप्रेरित करता हूँ।

उनके शब्द अर्थवान सिद्ध हों और उनका प्रयास सफल रहे ऐसी मेरी शुभाशा है।

शुभाशीष सहित,

विशुद्धानन्द मिश्र
आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र



श्रीमती ज्ञानवती सक्सेना

ए–1177, राजेन्द्र नगर
बरेली

श्री सत्य प्रकाश जी से मेरा परिचय मात्र तीन–चार वर्ष से ही है। यद्यपि मैं इनके शालीन व्यवहार से सदैव प्रभावित रही। यह तो मैं जानती थी कि काव्यगुण उनमें हैं। पर मैंने स्वप्न मे भी नहीं सोचा था कि इनकी कलम हिन्दी काव्य के प्रति जागरूक होगी। पर अचानक पहली पुस्तक की पान्डुलिपि गीता के विषय को लेकर लिखी गई, वह भी "श्री राधेश्याम रामायण" की तर्ज पर, आकर्षक शब्द चयन द्वारा। यह सब देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ और सुखद अनुभूति से गद्‌गद् हो गई।

कभी कभी लगता है कि यह गीता–पद्य–पुस्तक, माँ सरस्वती स्वयं ही लिख गई हैं।

आज तक किसी की पहली पुस्तक आध्यात्म से जुड़ी मैंने नहीं देखी। उनकी लेखन कला पर कुछ और भी चमत्कार मॉ वाणी से प्राप्त हों। इसी शुभकामना के साथ मेरा आशीर्वाद सदैव उनके साथ है।

मेरी बहुत बहुत शुभकामनाऐं।

ज्ञानवती सक्सेना
(ज्ञानवती सक्सेना)



काशीनाथ शर्मा,
पूर्व मंडलाध्यक्ष,
लायन्स क्लब इन्टरनेशनल

'रामायण'
113, सिविल लाइन्स,
बरेली

भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में अवतारवाद की अवधारणा है, जिसके अनुसार सृष्टिकर्ता का यह अटल एवं शाश्वत आश्वासन है कि जब–जब धर्म की हानि होती है, परमात्मा धरती पर स्वयं अवतरित होकर दुष्टों का विनाश और सज्जनों की रक्षा करते हैं। अवतारवाद की श्रंखला में श्री कृष्ण को 16 कलाओं का अवतार माना गया है और उन्हें पूर्ण पुरुष होने के साथ–साथ कृष्णस्तु भगवान स्वंय की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

मानव जाति को भगवान श्री कृष्ण का अमर संदेश गीता के रूप में उपलब्ध है। गीता पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं, अनगिनत टीकायें प्रकाशित हुयी हैं, तथापि मानवजाति के विकास के साथ इस क्षेत्र में और कुछ किये जाने की आवश्यकता सदैव विद्यमान रहेगी।

श्री सत्य प्रकाश सक्सेना ने गीता का अनुवाद अति सरल भाषा में श्री राधेश्याम कथावाचक की शैली में किया है, मैं उनके इस प्रयास की सराहना करता हूँ।

स्वनामधन्य श्री राधेश्याम कथावाचक एक व्यक्ति न होकर, एक विचार थे जो गायन की एक शैली बनकर विश्वविभूति के रूप में विख्यात हुये। मुझे उनका वंशज होने का सौभाग्य प्राप्त है और मैं इससे गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

मैं श्री सत्य प्रकाश सक्सेना के इस प्रयास पर उन्हें शुभकामनाएं प्रेषित करता हूँ और प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि उनकी लेखनी को और शक्तिसम्पन्न करें ताकि उनके माध्यम से कुछ और साहित्य सृजन हो सके।

काशीनाथ शर्मा
(काशीनाथ शर्मा)



डा० चन्द्र प्रकाश सक्सेना

अनुभूति
शिवा पुरम् बरेली रोड
रामपुर

'जन–जन गीता' में कृतिकार श्री सत्य प्रकाश सक्सेना का प्रयोजन 'श्रीमद् भगवद्‌गीता' के कथ्य को जन–सामान्य तक पहुँचाना प्रतीत होता है। मेरा अनुमान है कि यह कार्य उनके लिए एक चुनौती रहा होगा, क्योंकि गीता में संस्कृत भाषा में व्यक्त दर्शन है। जन–सामान्य के लिये उसका सरलीकरण करना निश्चय ही कठिन है। कृतिकार ने इस चुनौती को स्वीकार कर सफलतापूर्वक अपना रचनात्मक कार्य सम्पन्न किया है। यह कृत्य प्रशंसनीय है।

(डा0 चन्द्र प्रकाश सक्सेना)



ज़ोनल सेक्रेटरी
एस.बी.आई.पेंशनर्स एसोसिएशन बरेली ज़ोन
(रुहेलखण्ड एवं मुरादाबाद)

जी.एस.जुनेजा
चीफ मैनेजर (रिटायर्ड)
245–ए/9, आनन्द विहार,
माडल टाउन, बरेली – 243 122
फोन 2534253 मो. 9837312164

मैने श्री सत्य प्रकाश सक्सेना द्वारा रचित पुस्तक देखी है। मेरा विश्वास है कि राधेश्याम तर्ज पर लिखी यह काव्यकृति गीता के संदेशों को जन–जन तक पहुँचाने का माध्यम सिद्ध होगी।

गीता केवल हिन्दुओं का ग्रंथ मात्र नहीं है यह मानवता की बहुत बड़ी धरोहर है क्योंकि इसके संदेश मानव मात्र को जीवन जीने की कला सिखाते हैं। हारे, थके और निराश लोगों को फिर से खड़े होकर संघर्ष के लिये प्रेरित करते हैं तथा विजय प्राप्त करने का संकल्प पूरा करने का पथ प्रशस्त करते हैं।

मैं श्री सत्य प्रकाश सक्सेना के इस प्रयास की प्रशंसा करता हूँ तथा उनके उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ।

(जी.एस.जुनेजा)



Dr. N.L. Sharma
M.A. (Eco.) M.Com., LLB., Ph.D.
डॉ. एन.एल. शर्मा
एम.ए. (अर्थ.), एम.कॉम., एलएलबी., पीएच.डी.

-14, Kirtinagar,
Bareilly-243112
-१४, कीर्तिनगर,
बरेली-२४३१२२
0581-2537430,2392122
9412287774

दिनांक :

मैनें भाई सत्य प्रकाश सक्सेना जी द्वारा श्री राधेश्याम रामायण की तर्ज़ पर किये गये श्रीमद्भगवदगीता के अनुवाद की पाण्डु लिपि देखी है और मुझे यह कहते हुये प्रसन्नता एवं संतोष है कि सक्सेना जी ने इस गुरूतर दायित्व का भली प्रकार निर्वाह किया है।

जब मानव मूल्य रसातल को चले जाते हैं, धर्म अधर्म का विवेक समाप्त हो जाता है और अराजकता ही राजनीति बन जाती है तब धर्म की पुनः स्थापना करने, दुष्टों का विनाश करने और सच्चे मानव मूल्यों के संवाहकों की रक्षा करने के उद्देश्य से (परित्राणाय साधूनाम विनाशाय च दुष्कृताम्) प्रभु का अवतरण होता है। भगवान कृष्ण के इसी संदेश को जन–जन तक पहुचाने के पुनीत उद्देश्य ने ही सक्सेना जी को इस पुस्तक के लिखने की सत्प्रेरणा दी है और वह अपने उद्देश्य में सफल हैं।

संगीत भारत की आत्मा है, गीत उसके प्राण में विराजते हैं। गीता प्रभु की स्तुंति गायन मात्र नहीं है उसमें मानव जीवन की सभी संभावित समस्याओं का सम्यक हल है। व्यक्ति कैसे विषाद रहित, अवसाद रहित, तनाव रहित और प्रसन्न रह सकता है इसका सच्चा मार्ग गीता में यत्र–तत्र उपलब्ध है राधेश्याम रामायण भारतीय जन मानस में वाल्मीकि रामायण से अधिक लोक प्रिय है तो इसका श्रेय रामायण की गीत शैली और संगीत की संगति को दिया जा सकता है। मुझे विश्वास है कि भाई सत्य प्रकाश सक्सेना जी की यह कृति सत्य का प्रकाश पुंज सिद्ध होगी और सत्य प्रकाश सक्सेना के नाम को जन मानस के हृदय और मस्तिष्क में दीर्घ काल तक जीवित रखेगी।

श्री कृष्ण का चरित्र स्वयं दर्शन का आकाश
वर्णन कर कवि बन गये भाई सत्य प्रकाश

शुभकामना सहित,

प्रो० एन० एल० शर्मा
निदेशक [illegible] संकाय
[illegible] कालेज
[illegible] एन०एल० शर्मा

ॐ

नम्र-निवेदन

श्रीमद् भगवद्गीता पर अनेक मनीषियों द्वारा टीकाएँ एंव व्याख्याएँ दी गई हैं। भगवान की 'दिव्य वाणी संदेश' के एक एक शब्द के गूढ़ अर्थ बताए हैं। मैं अल्प–बुद्धि उनकी चरण रज तुल्य भी नहीं हूँ। काश! हो सकता तो जीवन ही धन्य हो जाता। मैं उन सभी मनीषियों, जिन्होने मानव कल्याण हेतु श्रीमद् भगवद्गीता पर भाष्य, टीकाएं एंव व्याख्यायें दी हैं, को श्रद्धा पूर्वक नमन करता हूँ।

हमारे मनीषियों द्वारा मानव की मन, बुद्धि, चित्त, आत्मा आदि शक्तियों, सीमाओं एंव सम्भावनाओं का समय, समय पर प्रतिपादित विभिन्न दर्शनों का एक मात्र संकलित रूप श्रीमद् भगवद्गीता है। भगवान वासुदेव द्वारा दिया गया उपदेश स्वयं मानव की सीमाओं एवं स्वाभाविक दुर्बलताओं को सहेज कर जिज्ञासाओं एवं शंकाओं का समाधान करता हुआ आध्यात्म की डगर पर चलने हेतु मार्ग प्रशस्त करता है।

श्रीगीता उपदेश समग्र मानव जाति में 'मानव–धर्म', अर्थात उनमें निष्काम कर्तव्य भाव जगाने पर ही केन्द्रित है। वर्णों का उल्लेख भी सांसारिक कर्मों को वर्गीकृत करने के उद्देश्य से है न कि मानवों को कर्मों के अनुसार उनको स्थायी रूप से बॉटने के लिए। वस्तुतः यह ग्रन्थ किसी विशिष्ट व्यक्ति, जाति, धर्म, भाषा, पंथ, देश–काल या किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है, अपितु यह सार्वलौकिक, सार्वकालिक और देश की भौगोलिक सीमाओं से कहीं ऊपर सम्पूर्ण मानव जाति (जो इस सृष्टि की रचना, पालन और नियन्त्रण के लिए किसी अदृश्य शक्ति के अस्तित्व को स्वीकारती है) की आदर्श सामाजिक आचार संहिता है। क्योंकि वस्तुतः

मानव धर्म ही धर्म है, 'जगत-पिता' है एक।
मानव के कल्याण हित, 'आस्था, पंथ' अनेक।।

श्री गीता जैसे सनातन, सार्वकालिक ग्रन्थ का सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याणार्थ जन सामान्य के स्तर पर प्रचार–प्रसार किये जाने की दिशा में अभी काफी गुन्जाइश है। 'जन–जन गीता' उसी दिशा में किये गये प्रयास का फल है।

श्री गीता का कथानक तो मात्र इतना ही है कि कुरुक्षेत्र के मैदान में पाण्डव–कौरवों के बीच ठने युद्ध में अपने ही पूज्य पितामह, गुरुवर व बन्धु–बान्धवों को युद्ध में तत्पर देख कर अर्जुन के हाथ से गाण्डीव खिसक जाता है। तब अर्जुन व्यथित होकर अपने 'सारथी' भगवान श्रीकृष्ण से युद्ध करने मे अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहता है, कि मात्र राज–सुख के लिए अपने श्रद्धेय और प्रिय बन्धु, बान्धवों को मारने से कहीं अधिक अच्छा है कि मैं भिक्षा मॉग कर जीवन यापन कर लूँ या संन्यास लेकर वन में चला जाऊँ। एक राज्य क्या, इसके बदले तीनों लोकों का राज्य भी निरर्थक है। तब भगवान श्रीकृष्ण उसकी जिज्ञासाओं एंव आशंकाओं पर खीजते नहीं अपितु सद्गुरु की भॉति अपनी दिव्य वाणी से उसे दिव्य ज्ञान देकर, ज्ञान चक्षु खोल कर उसे शान्त करते हैं। दिव्य दृष्टि देकर उसे अपने 'विश्व–रूप' के दर्शन भी कराते हैं। ज्ञान प्राप्त होने पर महाधनुर्धारी अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो जाता है।

इस प्रकार तो 'श्रीगीता उपदेश' का उद्देश्य मात्र अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करना भर प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा नहीं है। अपितु, भगवान वासुदेव ने एक ओर तो अर्जुन को युद्ध के लिये तैयार कर अधर्मी कौरवों व उनके सहयोगियों का विनाश और धर्म–निष्ठ पाण्डवों को विजय दिलाकर अधर्म पर धर्म की विजय रूपी अपने

वायदे **"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्"** का निर्वहन किया है, तो दूसरी ओर महा–शक्तिशाली किन्तु अधर्मी कौरवों के महाविनाश का मंज़र दिव्यदृष्टि प्राप्त संजय के माध्यम से इस 'संसार के प्रतीक' जन्मान्ध महाराज धृतराष्ट्र को दिखा कर संसारी–व्यक्तियों के मन में अधर्म के प्रति भय व वितृष्णा उत्पन्न कर मानव जाति को धर्म–मार्ग पर चलने का संदेश दिया है।

तत्व–वेत्ताओं के अनुसार आत्मा सनातन है, परमात्मा का ही अंश है। आत्मा का अभीष्ट–लक्ष्य धर्म मार्ग पर चल कर परमात्मा में विलय होकर आवागमन से मुक्ति पाना ही है।

जीवात्मा 84 लाख योनियों में विचरने के पश्चात ही दुर्लभ श्रेष्ठ मानव–योनि पाता है। आचार्य तुलसीदास ने भी कहा है **'बड़े भाग मानस तन पावा, सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन्हि गावा'**। इसी एक मात्र मानव योनि से ही धर्म–मार्ग पर चल कर मानव परममोक्ष की प्राप्ति कर सकता है, अन्य किसी योनि से नहीं। अधर्म पर चलकर तो वह पुनः अन्य निकृष्ट योनियों में प्रत्यावर्तित होकर भटकता ही रहेगा।

'श्रीगीता उपदेश' का सारा जोर शरीर के महत्व को स्थापित करने पर है। किन्तु उसे सजाने, संवारने, भोग–विलास में लिप्त रखने के बजाय उसे परममोक्ष की प्राप्ति के लिए बतौर सीढ़ी प्रयोग करना है। इसी में मानव जीवन की सार्थकता निहित है।

वस्तुतः प्रत्येक देह (क्षेत्र) ही कुरुक्षेत्र का मैदान है। हर देह में महाभारत हो रहा है। हर देह में श्रीगीता घटित हो रही है। मानव किसी भी देश, धर्म, जाति का क्यों न हो यदि उसे आध्यात्म के क्षेत्र में उतर कर मुक्ति पाना है, तो उसे इसी देह रूपी कुरुक्षेत्र में उतरना ही होगा। यह देह रूपी कुरुक्षेत्र अनन्त है। इसका विस्तार दसों इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पॉचो विकारों और तीनों गुणों तक है। इन सब की यही विशेषता है कि हम इन्हें अपना प्रिय समझ कर इनके अनुसार भोग में संलिप्त हैं, जबकि यही हमारे मुक्ति–मार्ग में बाधक हैं, हमारे शत्रु हैं। यह सब आसक्ति और अहंकार जैसे शत्रु हमारे अन्तर में हमारे पतन के लिए ही बैठे हैं। वस्तुतः श्रीगीता मानव को बाहरी नहीं अपितु देह के भीतरी युद्ध हेतु प्रशिक्षित करती है। यह लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक आध्यात्मिक संदेश देती है, और यही श्रीगीता का वास्तविक उद्देश्य भी है। अर्जुन की कहानी प्रत्येक युग के प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक, आन्तरिक जिज्ञासाओं, दुविधाओं एवं शंकाओं की कहानी है। इस देह रूपी कुरुक्षेत्र के एक किनारे पर भोग–विलास, अहंकार है तो दूसरे किनारे पर पुण्य कर्मो का श्रेष्ठ लोक है। इन्हीं दोनो किनारों के बीच महाभारत हो रहा है। वस्तुतः धर्म–मार्ग पर चलने पर यह देह रूपी कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र हो जाता है। अर्जुन अनन्य भक्ति और 'अनुराग' का प्रतीक है। अनन्य भक्त अर्जुन के हृदय में भगवान 'रथी' बनकर रहते हैं, तभी तो वे अर्जुन के 'सारथी' कहलाते हैं। कौरव और पाण्डव क्रमशः आसुरी और दैवी–वृत्तियों के प्रतीक हैं। इसी से विजय अन्ततः दैवी–वृत्तियों की ही होती है।

श्रीगीता प्रभु की दिव्यवाणी है। अतः यह पात्र, कुपात्र, सुपात्र सभी के लिये समान रूप से उपयोगी है। श्रीगीता मे निष्काम कर्म की ही प्रधानता है। भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद् प्राप्ति के दो मुख्य मार्ग बताये हैं– 'कर्मयोग और सांख्ययोग'। कर्मयोग को अव्यय कहा गया है। यही श्रीगीता का सार है। श्रीगीता के अनुसार हमारी यह देह (क्षेत्र) रज, तम रूपी खर–पतवार से भरी हुई है। हमें इसको साफ कर इस देह (क्षेत्र) को उपजाऊ बनाना है। इसंमें ऊर्जा स्थापित करना है। ज्ञान / कर्म योग के मार्ग पर सम्पूर्ण समर्पण भाव से चलना है। यह तब ही सम्भव है जब अन्तर्मन बरबस कह उठे कि :–

डूबने का ख़ौफ़ हो, हमको तो क्या ख़ाक हो।
हम तेरे, दरिया तेरा, कश्ती तेरी, साहिल तेरा।।

तभी हमको, अपने अभीष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी।

श्रीमद् भगवद्गीता का उपदेश सार्वकालिक, सनातन है। आज के परिवेश में जबकि मानव मूल्यों का क्षरण चरम सीमा तक होता चला जा रहा है, मानव दिशाहीन होकर भोग विलास में लिप्त होकर, अपने ही बुने जाल में फँसकर नाना यन्त्रणाएँ झेल रहा है। ऐसे समय में सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण हेतु श्रीगीता उपदेश की प्रासंगिकता बहुत अधिक बढ़ जाती है। अतः इसका प्रचार, प्रसार जन सामान्य स्तर पर समय की विशिष्ट आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से मनीषियों द्वारा स्थापित तथ्यों को सरल जन–भाषा हिन्दी, जिसमें स्वाभाविक रूप से अन्य भाषाओं के शब्द भी हैं (श्री राधेश्याम रामायण की तर्ज पर) गेय रूप में श्लोकवार रूपान्तरित करने का प्रयास किया गया है। इसे और रुचिकर रूप से साज पर भी गाया जा सकता है। यह निश्चित है कि रूपान्तरण कैसा भी क्यों न हो, जो रस और आनन्द मूल ग्रन्थ में होता है, वह उसमें नहीं आ पाता और फिर श्रीगीता जैसे गूढ़ ग्रन्थ की गहराई का पार पाना मुझ जैसे साधारण जन को कहां सम्भव है ?इसी से मूल रचना के भावों को पद्य–रूप में व्यक्त करने में हर भरसक प्रयास के बावजूद, कमियां रह जाना स्वाभाविक है। अतः यह सोचते हुए कि भगवान के श्रीमुख से निकले श्रीगीतामृत रूपी प्रसाद की जितनी भी बूँदें जन सामान्य तक पहुँचाने में यह कृति योगदान दे सके, वही अच्छा है। यह विचार मेरे मन में आया, इष्ट–मित्रों को बताया। उनके प्रोत्साहन स्वरूप फल आपके हाथों में है। यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है, इसका निर्णय आप सुधी पाठकगण करेंगे।

मुझ जैसे अकिंचन में रचना–भाव जगाने का महत्वपूर्ण कार्य परम श्रद्धेय दीदी श्रीमती ज्ञानवती सक्सेना के मार्ग–दर्शन व स्नेहाशीष, परम आत्मीय डा. एन.एल.शर्मा तथा परम प्रिय बन्धु डा. चन्द्र प्रकाश सक्सेना के सान्निध्य ने किया है जिसके लिये मैं इन सभी का आजीवन ऋणी रहूँगा।

मैं उन सभी स्नेही बन्धुओं विशेषकर श्री श्रीराम सिंह व श्री सईद अहमद सिद्दीकी को इस पुनीत कार्य हेतु प्रोत्साहित करने, श्री राजेन्द्र मोहन खन्ना को इसकी छपाई में महत्वपूर्ण योगदान देने, श्री बजरंग बहादुर श्रीवास्तव को इसके प्रकाशन हेतु आर्थिक योगदान देने एवं श्री संजय चौधरी, जिन्होने इस पुस्तक के मुद्रण एवं प्रकाशन के गुरुत्तर कार्य को मात्र लागत मूल्य पर सम्पन्न किया, के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके यहयोग से यह प्रकाशन सम्भव हो सका।

मैं परम श्रद्धेय आचार्य विशुद्धानन्द जी, पूर्व कुलपति, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली सहित अन्य विद्वानों श्रीमती ज्ञानवती सक्सेना, प्रख्यात वयोवृद्ध कवियत्री, श्री काशी नाथ शर्मा, प्रख्यात समाजसेवी एंव पौत्र पं0 राधे श्याम शर्मा, कथावाचक, विद्वान सरदार जी.एस.जुनेजा, हिन्दी साहित्य के विद्वान डा. चन्द्र प्रकाश सक्सेना व पूर्व प्रोफेसर एवं डीन डा. एन.एल.शर्मा, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली का भी हृदय की गहराइयो से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होने इस रचना के सम्बन्ध में अपनी बेशकीमती शुभकामनाएं, सन्देश एवं सम्मतियां देकर मेरा मनोबल बढ़ाया है।

प्रस्तुत रचना यदि श्री गीता–उपदेश को जन–सामान्य तक पहुँचाकर मानव कल्याण में कुछ भी योगदान दे सकी तो मुझ जैसा अकिंचन अपने जीवन को धन्य समझेगा। इसी विश्वास के साथ प्रभु से प्रार्थना है कि वे सुधी पाठकों एवं इसके प्रसार मे सहयोगी बन्धुओं पर भी अपनी कृपा की असीम वर्षा कर उनका कल्याण करें।

विनयावनत

मई 31, 2010 **सत्य प्रकाश सक्सेना**

ॐ

जन-जन गीता

(श्री राधेश्याम रामायण तर्ज पर)

प्रसंग-आधार

दोहा- शीश नवा, गणपति सुमिर, वाणी मॉ का ध्यान।
विनय करूँ, मति मंद मैं, कीजे प्रभु कल्याण।।

श्री गीता अति गूढ़ प्रभु! हम सब हैं अज्ञान।
हमको भी करवाएँ प्रभु! श्री गीतामृत पान।।

जिससे ऋषि, मुनि की यह धरती, आध्यात्म शीर्ष पर स्थित है।
संदेश दिव्य, सुखमय जीवन, औ' मुक्ति–मार्ग प्रशस्तित है।।

सब शास्त्रों का है सार यहां, सब ग्रन्थों का रस इसमें है।
जिससे भारत है जगत–गुरू, वह जीवन दर्शन इसमें है।।

है विमुख मनुज मानवता से, "आसुरी वृत्ति" में डूब रहा।
आसक्त इस कदर विषयों में, स्वनाश–कूप में डूब रहा।।

है भ्रमित बुद्धि, कुँठित विवेक, खुद से नितान्त अंजाना है।
अब गीता ज्ञानामृत सरिता, जन–जन उर मध्य बहाना है।।

सौ भाई थे सब कौरवगण, दुर्योधन उनमें जेठा था।
धृतराष्ट्र पिता थे नेत्रहीन, दुर्योधन शासक बेटा था।।

यों तो पाण्डव औ' कौरव में, नाता था भाई–भाई का।
पर पाण्डवगण थे धर्मनिष्ठ, दुर्योधन अति दुखदाई था।।

था जीता सारा राज पाट, पाण्डव को खिला जुआ उसने।
वनवास और अज्ञातवास, भी दिया उन्हें दुर्योधन ने।।

वनवास बिता कर पाण्डव ने, जब अपना राजपाट मांगा।
तब दुष्ट घमण्डी दुर्योधन, था मुकर गया अपना वादा।।

तब मांगे केवल पाँच गाँव, पाण्डव ने जीवन–यापन को।
वह बिना युद्ध तैयार न था, भू सुई–नोक भर देने को।।

दुर्योधन की हठधर्मी से, पाण्डव–कौरव में युद्ध ठना।
तब महासमर का समर–क्षेत्र, है कुरुक्षेत्र मैदान बना।।

कौरव की थी सेना विशाल, परिजन, गुरुवर भी उसमें थे।
पाण्डव के साथ थे मात्र कृष्ण, अर्जुन के बने सारथी थे।।

दोहा – कथा–सार का इस तरह, दिया सूक्ष्म संज्ञान।
गीतामृत का मित्र अब, करो मधुर रसपान।।

संजय से धृतराष्ट्र ने, कहा मुझे तत्काल।
बतलाओ कुरुक्षेत्र का, आँखो देखा हाल।।

इस संसार में वाणी से बढ़कर कोई शक्तिशाली वस्तु नहीं है। वाणी से मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र बनाया जा सकता है। ऐसी शक्तिशाली वस्तु का उपयोग प्रत्येक व्यक्ति को सोच-समझ कर करना चाहिए। वाणी का माधुर्य लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है और न बनने वाला कार्य भी बन जाता है।

ॐ

अध्याय १

(अर्जुन-विषाद योग)

धृतराष्ट्र– मेरे औ' पाण्डु–पुत्र दोनों, संजय! वे युद्धाकांक्षी हैं।
दोनो हैं रण को अड़े हुए, कैसी गतिविधियां साक्षी हैं।। (श्लोक–1)

संजय – संजय बोले, दुर्योधन ने, जब देखी पाण्डव की सेना।
गुरुं द्रोणा्चार्य को समझाई, पाण्डव सेना की व्यूह रचना।। (2)

बोला गुरुवर कृपया देखें, पाण्डव की भारी सेना को।
प्रिय शिष्य आपके धृष्टद्युम्न, द्वारा, इसकी व्यूह रचना को।।(3)

है महाधनुर्धर्मी अर्जुन, सात्यकि विराट भी इसमें हैं।
है भीम सरीखे महारथी, चेकितान, धृष्टकेतु भी हैं।। (4)

हैं कुन्तिभोज औ' काशीराज, नरश्रेष्ठ पुरूजित, शैव्य भी हैं।
हैं युधामन्यु से पराक्रमी, बलवान उत्तमौजा भी हैं।। (5)

हैं पुत्र सुभद्रा अभिमन्यु, औ' पाँचों पुत्र द्रौपदी के।
यह सब के सब हैं महारथी, धनुवीर हैं और पुरोधा वे।। (6)

•

दोहा- शत्रु शक्ति का आपको, करा दिया है भान।
अब सुनिये निज सैन्य के, सेनापति श्रीमान्।।

द्विजोत्तम! अपनी सेना का, विवरण तुमको बतलाता हूँ।
सेनापति जो जो अपने हैं, अब उनके नाम बताता हूँ।। (7)

है आप, पितामह, कृपाचार्य, हैं और कर्ण से रण विजयी।
हैं भूरिश्रवा, योद्धा विकर्ण, अश्वत्थामा भी युद्धजयी।। (8)

हैं और युद्धरत शूरवीर, उत्सर्ग प्राण को तत्पर हैं।
हैं सभी निपुण रणकौशल में, सब शस्त्र प्रवीण धुरन्धर हैं।। (9)

सब विधि अजेय अपनी सेना, है कुशल भीष्म संरक्षण में।
सक्षम हैं पाण्डव सेना को, हर भाँति हराने को रण में।। (10)

अब आप लोग सब डटे रहें, करने रक्षा अपने हित की।
निज लक्ष्य प्राप्त कर पाओगे, रक्षा कर भीष्म पितामह की।। (11)

दोहा- सिंह गर्जना कर तभी, भीष्म बजाया शंख।
दुर्योधन के जोश को, लगे हर्ष के पंख।। (12)

ढोल, नगारे, नरसिंगा, शंख और मृदंग।
शब्द भयंकर कर उठे, बजे सभी इक संग।। (13)

जब श्वेत अश्व के दिव्य–रथी, भगवान कृष्ण औ' अर्जुन ने।
झट शंख अलौकिक फूँक दिये, अपने नर औ' नारायण ने।। (14)

श्री कृष्ण बजाया 'पांचजन्य', अर्जुन ने 'देवदत्त' फूँका।
वृकोदर भीम ने भी राजन्! तब 'पौन्ड्र' महान शंख फूँका।। (15)

कुन्तीसुत नृपद युधिष्ठिर ने, 'अनन्त विजय' पर घोष किया।
'मणिपुष्पक' पर सहदेव और, नकुल ने फूँक 'सुघोष' दिया।।(16)

महारथी, शिखण्डी, काशिराज, धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि ने।
पाँचो द्रोपदि–सुत ने फूँके, और नृपद वीर–अभिमन्यु ने।। (17,18)

पृथ्वी–अम्बर भी काँप उठे, उन शंखों के रणघोषों से।
हैं हृदय आपके पुत्रों के, भी दहल गये राजन्! उससे।। (19)

दोहा- संजय ने धृतराष्ट्र से, कहा सुनें महाराज।
विनय कर रहे कृष्ण से, धन्वी अर्जुन आज।।

अर्जुन - हे माधव! उत्कट इच्छा है, देखूं युद्धेच्छुक वीरों को।
दुर्मति दुर्योधन के शुभेच्छु, रण में आये रणवीरों को।।

मुझको किन किन से लड़ना है, जब तक न देख लूँ मैं उनको।
दोनो सेनाओं मध्य प्रभो! रोके रखिये तब तक रथ को।।(20,21,22,23)

लख कर अर्जुन की व्याकुलता, केशव ने रथ को रोक दिया।
रण बीच जहां थे भीष्म–द्रोण, मधुसूदन ने उपदेश दिया।।

श्री कृष्ण- केशव तब बोले अर्जुन से, हे पार्थ! सामने अब देखो।
तुमको अब जिनसे लड़ना है, उस कौरव दल को अवलोको।।(24,25)

संजय - **दोहा-** पृथा–पुत्र हतप्रभ हुए, लख अपनो की भीड़।
इनसे लड़ना है मुझे, सोच हुए गम्भीर।।

अर्जुन - ताऊ, चाचा, दादाओं को, गुरुजनों और मामाओं को।
भाइयों को पुत्र, पौत्रों को, ससुराल पक्ष योद्धाओं को।।

सुहृद–वर्ग को भी देखा, औ' देखा अपने परिजन को।
करुणा से पार्थ अधीर हुए, समझा न सके विचलित मन को।।

सम्मुख शुभेच्छुक स्वजन देख, अर्जुन बोले हे मधुसूदन!
मुख सूख रहा, हैं अंग शिथिल, कम्पित रोमांचित मेरा तन।। (26,27,28,29)

गाण्डीव हाथ से खिसक रहा, औ' त्वचा बहुत ही जलती है।
असमर्थ खड़ा होने में हूँ, मन, बुद्धि भ्रमित सी लगती है।। (30)

दोहा- हे केशव! लक्षण मुझे, दीख रहे विपरीत।
हित हो कुल के नाश में, होता नहीं प्रतीत।। (31)

हे कृष्ण! न चाह विजय की है, कुछ लोभ न राजसुखों का है।
हो मात्र राज–सुख को जीवन, वह जीवन मात्र दुखों का है।।(32)

हैं राज–भोग सुख इष्ट जिन्हें, रण को दिखते कितने आतुर।
ताऊ, चाचा, दादा, मामा, पोते, साले, गुरु और ससुर।।

धन, प्राणों का कर मोह त्याग, सम्मुख हैं सब ही खड़े हुए।
हैं स्वार्थान्ध हो चुके सभी, हैं रण करने को अड़े हुए। (33,34)

हे मधुसूदन! यह करें वार, या मिले राज त्रैलोकों का।
तब भी वध इनका उचित नहीं, क्या अर्थ जरा सी पृथ्वी का।।(35)

तब हम को खुशी मिलेगी क्या, धृतराष्ट्र सुतों के हतने से।
प्रत्युत में पाप लगे हमको, इन दुष्ट जनों के बधने से।। (36)

कैसे सुख से रह पायेंगे, क्षय करके अपने ही कुल का।
हे माधव! उचित नहीं लगता, वध धृतराष्ट्र के पुत्रों का।। (37)

दोहा- कौरव को दिखता नहीं, चित्त हो गया भ्रष्ट।
मित्र–वैर का पाप औ', कुल क्षय जनित अनिष्ट।। (38)

कुलनाश जन्य दोषों से हैं, सब भली भाँति परिचित केशव।
क्यों नहीं सोचते फिर उपाय, बचने का हम समुचित केशव।।(39)

कुल के विनाश के होते ही, कुल–धर्म नष्ट हो जाते हैं।
कलुषित हो जाती ललनाएँ, हर ओर पाप मंडराते हैं।। (40)

पथ–भ्रष्ट हुई ललनाओं से, संतति कुमार्ग पर जाती है।
कुलघाती को तब नरक–द्वार, ऐसी संतति पहुंचाती है।। (41,42)

श्लोक 36 – प्रत्युत = अपितु, बल्कि।

कुल, जाति, सनातन धर्म सभी, मिट जाते हैं कुलघाती के।
फिर हो जाते स्थान–पतित, पुरखे भी उस संघाती के।। (43)

वर्ण–संकर संतति होने से, कुल धर्म नष्ट हो जाता है।
ऐसा कुलघाती तो माधव! बस नरक वास ही पाता है।। (44)

हैं घोर पाप हम कर बैठे, निश्चय करके रण करने का।
थोड़े से राज–सुखों खातिर, अपनो का जीवन हरने का।। (45)

अब यही श्रेयस्कर है मुझको, बलिदान करूँ निज जीवन को।
चाहे मारे धृतराष्ट्र पुत्र, मुझसे निशस्त्र कायर जन को।। (46)

संजय – संजय बोला रण प्रांगण में, यह कह कर शोकाकुल अर्जुन।
गाण्डीव छोड़ कर बैठ गया, रथ पर ही तब व्याकुल अर्जुन।।(श्लोक–47)

❖

सत्संग, स्वाध्याय और तप से हम अपने जीवन की दिशा बदल सकते हैं। साथ ही आत्मा और परमात्मा का ज्ञान पाकर जीवन को श्रेष्ठ और उत्कृष्ट बना सकते हैं। सच्चा सुख परमात्मा के साक्षात्कार में हैं। चारों पुरूषार्थों - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अंतिम पुरूषार्थ मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर प्रभु भक्ति के साथ सदाचारी जीवन निर्वहन करने से निश्चित रूप से हमारे समृद्धशाली जीवन का मार्ग प्रशस्त होगा।

ॐ

अध्याय २
(सांख्य योग)

संजय – दुख से कातर अर्जुन से तब, विस्मित हो बोले मधुसूदन।
रण–मध्य मोह न यशदायी, न कीर्ति स्वर्गदायी अर्जुन।। (श्लोक–1,2)

श्री कृष्ण – हे पार्थ! न शोभा देती है, तुझको मन की यह दुर्बलता।
युद्धार्थ खड़ा हो जा अब तू, तजकर अपनी यह निर्बलता।। (3)

अर्जुन – सम्मुख गुरु–द्रोण पितामह को, लख मन मेरा भरमाया है।
उन पर कैसे मैं वार करूँ, दोनो ने गोद खिलाया है।। (4)

भौतिक सुख ही तो पाऊंगा, पूज्यों का रक्त बहाने से।
अच्छा है भीख मांग खाऊँ, रक्तिम सिंहासन पाने से।। (5)

दोहा- क्या रण में करना उचित, हमें नहीं है ज्ञात।
करे जीत किसको नमन, यह भी है अज्ञात।।

जिनके मरने पर हम अपना, जीवन ही व्यर्थ समझते हैं।
वे ही धृतराष्ट्र–पुत्र हमसे, निज शत्रु मान कर लड़ते हैं।। (6)

है प्रिय–मोह से बुद्धि भ्रमित, औ' धर्म ज्ञान भी कुंठित है।
मुझको दें सद्उपदेश प्रभो! यह दास चरण में अवनत है।। (7)

भूलोक का हो समृद्ध राज्य, या देवलोक की सत्ता हो।
हर सके दुखी मन की पीड़ा, इनमें शायद ही क्षमता हो।। (8)

भगवान कृष्ण को अर्जुन ने, फिर अपना निश्चय कह डाला।
मैं युद्ध नहीं कर पाऊंगा, डाला कहकर मुंह पर ताला।। (9)

संजय – **दोहा-** अर्जुन से बोले तभी, मुस्काकर भगवान।
लगते तुम पंडित कभी, कभी निपट अज्ञान।। (10)

श्री कृष्ण – गुरु द्रोण, पितामह दोनो ही, हैं सदचार परमार्थ रूप।
दोनों ही हैं अशोच्य अर्जुन, हैं दोनो ही सत्यार्थ रूप।। (11)

है पार्थ! आत्मा नित्य–रूप, यह कभी न जीती मरती है।
केवल काया को वस्त्र–भांति, यह सदा बदलती रहती है।। (12)

ज्ञानीजन होकर निर्विकार, बचपन, यौवन वृद्धापन को।
मौसम की भॉति समझते हैं, सुख–दुख, काया–परिर्वतन को।। (13)

सुख–दुख हो या गर्मी–सर्दी, सब फल इन्द्रिय–सँयोग के हैं।
योगी–जन लिप्त नहीं होते, भोगी सहते फल भोग के हैं।। (14)

दोहा- सुख–दुख में समभाव जो, नहिं कुछ हर्ष–विषाद।
वे अधिकारी मोक्ष के, कोई नहीं विवाद।। (15)

सत्–असत् बुद्धियां दोनो ही, सर्वत्र जगत में होती हैं।
सत् का तो अन्त नहीं होता, पर असत् स्वंय को खोती है।। (16)

आत्मा होती है ब्रह्म रूप, उसको कोई क्या मारेगा।
जो सकल सृष्टि का धारक है, कैसे कोई संहारेगा।। (17)

आत्मा रहती है अजर–अमर, केवल शरीर है नाशवान।
तुम तजो सकल अज्ञान–मोह, अब रण–उद्धत हो शौर्यवान।। (18)

अज्ञानी ही कहते हैं ये, मैने मारा, मुझको मारा।
मरता न मारता आत्म तत्व, केवल तन का करतब सारा।। (19)

आत्मा ना घटती, बढ़ती है, ना पैदा होती मरती है।
आत्मा तो है शास्वत स्वरूप, वह निर्विकार ही रहती है।। (20)

जो नित्य अजन्मा, अविनाशी , समझें जो अक्षय आत्म–रूप।
हैं वही आत्म तत्व ज्ञाता, वे ही समझें उसका स्वरूप।। (21)

दोहा- जीर्ण वस्त्र ज्यों त्याग कर, धारण करे नवीन।
जीवात्मा भी उसी तरह, काया धरे प्रवीण।। (22)

पंचतत्व, क्षिति, जल, गगन, पावक और समीर।
मार सके नहीं आत्मा, शस्त्र और शमशीर।। (23)

आत्मा तो नित्य सनातन है, अव्यक्त, अचिन्त्य औ' अविनाशी।
मैं हन्ता हूँ, मैने मारे, अर्जुन! यह सोच है उपहासी।। (24,25)

हे अर्जुन! यदि हम यह माने, आत्मा जीती है, मरती है।
तब भी क्या शोक उचित तुझको, गति जन्म–मृत्यु क्या रुकती है।।(26,27)

मृत्यु बाद से जन्म पूर्व तक, है प्राणी सदा अदृश्य रहे।
उसका क्या शोक करे अर्जुन! जन्म–मृत्यु मध्य बस देह धरे।। (28)

मन, बुद्धि, इन्द्रियों से अर्जुन, आत्मा का भान नहीं होता।
सब अचरज से कहते सुनते, पर सच्चा ज्ञान नहीं होता।। (29)

दोहा- जीवात्मा जीती सदा, काया मरती, पार्थ।
शोक करे किसके लिए, क्यों चिन्ता मिथ्यार्थ।। (30)

यह युद्ध और प्रजारक्षण, क्षत्रिय का परम धर्म होता।
कल्याण तेरा रण में ही है, फिर क्यों ऐसा अवसर खोता।। (31)

बिन मांगे धर्म–युद्ध अवसर, हैं बड़े भाग से मिल पाते।
है युद्ध, क्षत्रिय परम धर्म, हैं स्वर्ग द्वार सब खुल जाते।। (32)

यह धर्म युद्ध है हे अर्जुन! यदि इससे तू मुंह मोड़ेगा।
सदकीर्ति नष्ट होगी तेरी, तू पाप बोझ भी ढोयेगा।। (33)

होकर पराक्रमी, धर्म–निष्ठ, अपकीर्ति दंश तू झेलेगा।
तेरे जैसा यशस्वी भी, हो पराभूत अपयश लेगा।। (34)

दोहा- दुर्योधन भयभीत जो, वही करे उपहास।
दया नहीं समझे कुटिल, समझे तुझे हताश।। (35)

वैरी दल तेरी क्षमता पर, जब व्यंग्य वाण बरसायेगा।
उस निन्दा के दुख से बढ़कर, क्या और अन्य दुख पायेगा।। (36)

हे कौन्तेय! दृढ़ निश्चय कर, जब रण में शस्त्र उठायेगा।
जीतेगा पृथ्वी–सुख भोगे, यदि मरा स्वर्ग ही जायेगा।। (37)

जय और पराजय हानि–लाभ, सुख–दुःख समान समझ कर तू।
अब धर्म–युद्ध को तत्पर हो, सब राग–द्वेष को तजकर तू।। (38)

अब तक मैने जो बतलाया, वह ज्ञान योग है हे अर्जुन।
अब कर्मयोग बतलाता हूँ, जिससे कट जाते सब बन्धन।। (39)

दोहा- कर्मयोग का सार है, कर्म करे निष्काम।
आदि अन्त भी है सुखद, जन्म–मृत्यु सुखधाम।। (40)

भोगोन्मुख कर्म सकाम सभी, इसलिये अन्त तो निश्चित है।
निष्काम कर्म होता अनन्त, इसका विस्तार अनिश्चित है।। (41)

ऐश्वर्य, स्वर्ग जिनका अभीष्ट, हैं जन्म कर्मफल भोगी वे।
संसार–चक्र में भ्रमते हैं, अज्ञानी हैं अविवेकी वे।। (42,43)

जो बुद्धि हो गई है अस्थिर, ऐश्वर्य भोग आसक्ति ग्रसे।
कैसे स्थिर हो बुद्धि पार्थ!, वह अन्र्तमन पैठे कैसे।। (44)

श्लोक 34 – पराभूत = हारा हुआ।

अर्जुन! निष्कामी द्वन्द–रहित, तू नित्य सत्व–गुणकारी बन।
तू सकल कामना तजकर के, परमात्म–रूप अनुरागी बन।। (45)

दोहा- जिसे सरोवर प्राप्त हो, सरिता का क्या अर्थ।
तत्वज्ञी को उस तरह, लोभ मोह सब व्यर्थ।। (46)

बस कर्म सदा तेरे वश में, फल पर कोई अधिकार नहीं।
फल की इच्छा से किया कर्म, ईश्वर को है स्वीकार नहीं।। (47)

हे अर्जुन! तू योगी बन कर, यों सिद्धि–असिद्धि में भेद न कर।
निष्काम–कर्म फल–इच्छा बिन, करके प्रभु को तू अर्पण कर।। (48)

हैं सकाम कर्म निकृष्ट कर्म, इनमें है फल की अभिलाषा।
सम–बुद्धि वरण कर लो अर्जुन! मन में न रखो कोई आशा।। (49)

समभाव ज्ञान से सब बन्धन, औ' पाप–पुण्य सुकृत–अपकृत।
कट जाते इसी लोक में हैं, अर्जुन कर उनको अंगीकृत।। (50)

दोहा- कर्म फल को त्याग दे, जो ज्ञानी सम–बुद्धि।
जन्म–मरण बन्धन कटें, परम–धाम हो सिद्ध।। (51)

तू माया मोह विरत होकर, जब अन्तर में खो जायेगा।
तब ही यथार्थ में तू अर्जुन, वैराग्य प्राप्त कर पायेगा।। (52,53)

अर्जुन – हैं समाधिस्थ के क्या लक्षण, हे मधुसूदन! यह बतलाएँ।
कैसे वह बोले, बात करे, औ' रहें सहें यह समझाएँ।। (54)

श्री कृष्ण – हो पूर्णरूप से आत्म–लीन, जो इच्छाओं का दमन करे।
उस आत्म तुष्ट स्थिर–मति का, ज्ञानी संन्यासी नाम धरे।। (55)

जो दुख में दुखी नहीं होता, न सुख की और कामना है।
उस राग–द्वेष, भय, क्रोध–रहित, को जग ने योगी माना है।। (56)

श्लोक 50 – समभाव = सभी में समानता का भाव रखना।
श्लोक 52–53 – विरत = मुक्त।

दोहा- राग–द्वेष, शुभ–अशुभ से, सदा शान्त निर्विकार।
वही तो स्थित–प्रज्ञ है, एक रूप व्यवहार।। (57)

कछुए की भांति खींच ले जो, निज को विषयों से साधिकार।
है स्थिर बुद्धि उसी की वह, संन्यासी है वह निर्विकार।। (58)

निवृत आसक्ति नहीं होती, केवल विषयों की दूरी से।
निवृत्ति राग की होती है, हे पार्थ! ब्रह्मदर्शन ही से।। (59)

आसक्ति अगर जीवित रहती, आकृष्ट इन्द्रियॉं करती हैं।
वे बुद्धिमान को भी अर्जुन! विषयों का लोभ परसती हैं।। (60)

इन्द्रियाँ रखे वश में करके, मुझमें ही ध्यान लगाता है।
सुस्थिर हो जाती बुद्धि वही, मुझको भी वह ही भाता है।। (61)

विषयों का ध्यान और चिन्तन, मन में आसक्ति जगाता है।
क्रमशः होता है क्रोध और, भ्रम ज्ञान नष्ट हो जाता है।। (62)

अविवेकी पुरुषार्थहीन का, अन्र्तमन दूषित हो जाता।
मृतप्राय पुरुष होकर अर्जुन! वह परम लक्ष्य से गिर जाता।। (63)

जिसके वश में है अन्र्तमन, जो राग–द्वेष से विरत रहे।
शास्त्रोचित कर इन्द्रिय सेवन, आनन्द करे औ' स्वस्थ रहे।। (64)

ऐसे प्रसन्न मन प्राणी के, कष्टों की इति हो जाती है।
मति निश्छल होती आत्म–रूप, स्थिर नभ सी हो जाती है।। (65)

भौतिक सुख को ही सुख समझे, इन्द्रिय मन पर है जोर नहीं।
तृष्णा अशान्ति के रहने पर, सुख को मिलती है ठौर नहीं।। (66)

दोहा- जैसे वायु पलट देती, जल में नौका मार्ग।
विषय–बुद्धि वैसे हरे, ज्ञान, बुद्धि, सन्मार्ग।। (67)

इन्द्रियों के हैं जो विषय–दोष, अपने विवेक से दमन करे।
होते उसके उत्तम विचार, वह ज्ञान मार्ग पर गमन करे।। (68)

परमार्थ–मार्ग ज्यों निशा भाँति, लगता भोगी, अज्ञानी को।
वैसे ही निशा समान लगे, अज्ञान, अविद्या ज्ञानी को।। (69)

ज्यों रहता शान्त, अचल सागर, भर नाना सरिताओं का जल।
त्यों भोग, विकार समाहित कर, योगी जन पाते मुक्ति अचल।।(70)

जो सकल कामना तज कर के, जीवन से मोह न रखता है।
ऐसा ही परम–ब्रह्मज्ञानी, फल परम–मोक्ष का चखता है।। (71)

हे पार्थ! ब्रह्म–स्थित होकर, जो मोह पाश से मुक्त रहे।
आजीवन संन्यासी रह कर, वह परम ब्रह्म आनन्द गहे।। (श्लोक–72)

❖

समर्पण ही सकल संसार का संरचनात्मक एवं क्रियात्मक तत्व है। समर्पण ही सभी सम्बंधों का मूलाधार एवं सरसता का अंतःस्रोत है। समर्पण का यह भाव मानव-हृदय में तभी उत्पन्न होता है जब अपने स्तत्व को पूर्णत्व एवं परमत्व में विलीन कर देता है। कबीर, मीर, तुलसी, विवेकानन्द, रामदास, दयानंद, एकनाथ, चैतन्यमहाप्रभु आदि अनेक संतों ने स्वयं को प्रभु चरणों में पूर्णतः समर्पित कर दिया। इसी से वे आज भी श्रद्धेय, पूज्य एवं स्मरणीय होने के साथ ही समाज के प्रेरणास्रोत एवं प्रकाश स्तंभ है।

श्लोक 72 – पाश = जाल।

ॐ

अध्याय ३
(कर्म योग)

अर्जुन – **दोहा-** केशव अभिमत आपका, ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ।
क्यों कहते हैं आप फिर, कर्म करूँ मैं नेष्ट।। (श्लोक–1)

बुद्धि भ्रमित मेरी हुई, दें मधुसूदन! ज्ञान।
ज्ञान, कर्म में क्या उचित, दूर करें अज्ञान।। (2)

श्री कृष्ण – निष्ठाएँ द्विविध होती हैं, इस मृत्यु लोक में सुन अर्जुन।
है ज्ञान–निष्ठ सम्पूर्ण कहाँ, बिन कर्म–निष्ठ, सुन हे अर्जुन।। (3)

सुन कर्म बिना निष्काम कर्म, कैसे सम्भव हो पायेगा।
तप, ज्ञान, यज्ञ से ही अर्जुन! यह मन निर्मल हो पायेगा।। (4)

हैं प्रकृति–जनित सत,रज,तम गुण, सर्जन करते सब कर्मों का।
अज्ञानी लिप्त रहें इनमें, आभास नहीं सत–मर्मो का।। (5)

कर्मेन्द्रियों पर रख कर अंकुश, भोगों का करता है चिन्तन।
वह मिथ्याचारी, व्यभिचारी, पाखण्डी कहलाता अर्जुन।। (6)

मन से इन्द्रियों को रख वश में, हो अनासक्त जो कर्म करे।
वह श्रेष्ठ मनुज पाखण्डी से, जो कर्म योग में चित्त धरे।। (7)

दोहा- नियत जिसे जो कर्म है, करना उसका धर्म।
कर्म बिना सम्भव नहीं, निज काया प्रति धर्म।। (8)

यथार्थ कर्म है, ईश्वरार्थ, कुन्तीनन्दन तुम उन्हें करो।
बन्धन कारक अन्यथा कर्म, निष्काम–कर्म का वरण करो।। (9)

ब्रह्मा जी ने जब यज्ञ सहित, इस सकल सृष्टि की रचना की।
मन वांछित ऋद्धि–सिद्धि–दायक, इस यज्ञ विधा की शिक्षा दी।। (10)

है देव–मनुज दोनों का हित, दोनो उन्नत हो जायेंगे।
और यज्ञ से ज्ञान प्राप्त कर, वे परम मोक्ष पा जायेंगे।। (11)

होकर संतुष्ट यज्ञ से जब, मनवांछित भोग देव देंगे।
बिन प्रतिफल दिए भोग भोगें, देवों के चोर कहावेंगे।। (12)

दोहा- यज्ञ शेष भोजन करे, पाप मुक्त वे लोग।
वे सब पापी हैं निपट, स्वहित पकायें भोग।। (13)

है अन्न खाय जीता प्राणी, उससे संतति पैदा होती।
अन्न वृष्टि से होता है, औ' वृष्टि यज्ञ से ही होती।। (14)

उत्पन्न कर्म वेदों से है, औ' परम–ब्रह्म से वेद हुए।
यज्ञों में ब्रह्म प्रतिष्ठित है, वेदों से ही सब यज्ञ हुए।। (15)

जो शास्त्रोचित न कर्म करे, इन्द्रीय–विषयों में रमण करे।
है पार्थ व्यर्थ जीवन उसका, वह जन्म–मृत्यु में भ्रमण करे।। (16)

जो आत्म–रूप में मगन रहे, विषयों से कोई राग नहीं।
उस आत्म–निष्ठ संन्यासी को, आवश्यक तीर्थ प्रयाग नहीं।। (17)

दोहा- कर्म अकर्म में पार्थ जो, रखते हैं समभाव।
उनका अहित न हो कभी, जो निस्वार्थ स्वभाव।। (18)

अनासक्त, निष्काम कर्म से, निर्मल होता है अन्तर्मन।
जिससे ईश्वर प्रति कर्मो से, वह परमधाम पाता अर्जुन।। (19)

है जनक आदि से ज्ञानीजन, जो परमधाम को प्राप्त किए।
वे अनासक्त–पथ पर चल कर, ही तत्व ज्ञान को ग्रहण किए।। (20)

जिस पथ पर श्रेष्ठ पुरुष चलकर, औरों को राह दिखाते हैं।
लौकिक वैदिक आचरण करें, वे ही प्रमाण बन जाते हैं।। (21)

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकों, में कर्म न कुछ करने को है।
अप्राप्त नहीं कुछ भी मुझको, करने को फिर भी कुछ तो है।। (22)

हे पार्थ! अगर आलस्य करूँ, सब लोक नष्ट हो जायेंगे।
हन्ता कहलाऊँगा जग का, सब मुझको दोष लगायेंगे।। (23,24)

हे भारत, जो फल के भय से, जैसे अज्ञानी कर्म करे।
वैसे ही जनहित में ज्ञानी, आसक्ति रहित हो कर्म करे।। (25)

दोहा- भटकों को सन्मार्ग पर, लाना ज्ञानी–धर्म।
बिना बुद्धि विचलित हुए, करें सभी सद्कर्म।। (26)

है प्रकृति कराती सभी कर्म, औ' वही नियन्त्रित करती है।
जो कहता "मैं उसका कर्ता", वह 'अहंकार–मति' होती है।। (27)

गुणकर्म–विभाग के तत्व सभी, गुण रूप में बरता करते हैं।
है अनासक्त, ज्ञानी वे सब, सत्कृत की चर्चा करते हैं।। (28)

जो मन्द बुद्धि आसक्त पुरुष, फल की चाहत में कर्म करें।
ऐसे जड़ पुरुषों की मति को, क्यों विचलित ज्ञानी पुरुष करे। (29)

दोहा- हे अर्जुन! कर दे मुझे, अर्पित सारे कर्म।
हो निर्मोही युद्ध कर, यह तेरा अब धर्म।। (30)

अर्जुन! मुझमें जो श्रद्धा रख, मेरे मत का आचरण करे।
अन्यथा कर्म ऐसे जन के, हैं इसी लोक में क्षरण करें।। (31)

अर्जुन! जो मेरा मत न मान, विपरीत आचरण करते हैं।
ऐसे अविवेकी मूढ़ पुरुष, अपना अनर्थ खुद करते हैं।। (32)

श्लोक 27–मति = बुद्धि।
श्लोक 28–सत्कृत = अच्छे कर्म।

हैं प्रकृति–वशी ज्ञानीजन भी, अज्ञानी का कहना ही क्या।
हैं विधि–निषेध वश में किसके, औ' शास्त्र करेंगे इसमें क्या।। (33)

हैं प्रकृति जन्य सब राग–द्वेष, कल्याण मार्ग में बाधक है।
कर ग्रहण पार्थ! अब शास्त्र–दृष्टि, शुचि नियम मोक्ष के साधक हैं।। (34)

दोहा- निज विगुण धर्म भी उत्तम, है मरना इसमें श्रेष्ठ।
पराधर्म भयप्रद सदा, नारकीय औ' नेष्ट।। (35)

अर्जुन – जिससे बिन इच्छा भी प्राणी, करता रहता है पाप कर्म।
हे भगवन मुझको बतलायें, सारे अनर्थ का आप मर्म।। (36)

श्री कृष्ण – है शत्रु 'काम' ही प्राणी का, वह सब अनर्थ का दाता है।।
सब पाप कर्म इससे जन्में, यह शान्त नहीं रह पाता है।। (37)

ज्यों अग्नि धूम से आवृत है, ज्यों दर्पण मल से ढंका हुआ।
ज्यों गर्भ जेर से ढंका हुआ, त्यों ज्ञान काम से ढंका हुआ।। (38)

यह काम ज्ञान का शत्रु है, अज्ञानी नहीं समझता है।
मदहोश काम से हुआ पुरुष, भोगों से तृप्त न होता है।। (39)

दोहा- मन बुद्धि औ' इन्द्रियां, है वही काम स्थान।
प्राणी को मोहित करें, आच्छादित कर ज्ञान।। (40)

इसलिये इन्द्रियां कर वश में, परित्याग काम पापी का कर।
कल्याण सदा होगा भारत! बस ज्ञान मार्ग पर ही चल कर।। (41)

इन्द्रियां देह से उत्तम हैं, इन्द्रियों से उत्तम मन होता।
मन से उत्तम निश्चय–बुद्धि, बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मन होता।। (42)

आत्म बुद्धि से कहीं श्रेष्ठ, तुम आत्म–तत्व को ग्रहण करो।
इन्द्री, मन, बुद्धि नियन्त्रित कर,तुम काम शत्रु का क्षरण करो।। (श्लोक–43)

❖

श्लोक 35–विगुण = अच्छाइयों से रहित।
पराधर्म = दूसरा धर्म।

ॐ

अध्याय ४
(ज्ञान कर्म सन्यास योग)

श्री कृष्ण – **दोहा-** ज्ञान योग बतला दिया, उसके दोनो रूप।
आगे चल कैसा हुआ, उसका वही स्वरूप।।

सूरज को ज्ञान योग शिक्षा, मैंने ही आदि काल में दी।
मनु ने फिर पिता सूर्य से ले, निज–सुत नृप–इच्क्षवाकु को दी।। (श्लोक–1)

इस क्षत्रिय नृप औ' ज्ञानी से, मुनि परम्परा में चला योग।
कालान्तर दुर्बल हाथों में, विस्मृत ही सारा हुआ योग।। (2)

अर्जुन! यह सारा ज्ञान–योग, अति रहस्यमयी, पुरातन है।
तुमही हो मित्र भक्त मेरे, तुम सुनो ज्ञान यह अनुपम है।। (3)

अर्जुन – अर्जुन बोले मैं हुआ भ्रमित, वय का रहस्य यह समझाएँ।
सूर्य सृष्टि के आदि से है, हैं आप अभी जग में आये।। (4)

श्री कृष्ण – **दोहा-** जन्म बहुत हैं हो चुके, मेरे तेरे तात।
तू उनको जाने नहीं, किन्तु मुझे सब ज्ञात।। (5)

मैं सदा अजन्मा अविनाशी, मैं जग में आता रहता हूँ।
प्राणी जन के कल्याण हेतु, मैं स्वंय प्रकट हो जाता हूँ।। (6)

जब–जब होती है धर्म हानि, जब पाप अधिक बढ़ जाता है।
तब–तब जग के कल्याण हेतु, निज रूप प्रकट हो जाता है।(7)

सन्तों की रक्षा हेतु पार्थ! संहार दुष्ट का करने को।
अवतार सदा लेता हूँ मैं, जग–धर्म व्यवस्था करने को।। (8)

जो दिव्य अलौकिक जन्म–कर्म, यह तत्व–वेत्ता पहचाने।
हो आवागमन मुक्त अर्जुन! वह मुझमें अन्त विलय जाने।। (9)

राग–द्वेष, भय क्रोध रहित, तल्लीन भक्ति मेरी होकर।
हैं हुए अनेकों मोक्ष प्राप्त, बस ज्ञान मार्ग पर ही चलकर।। (10)

दोहा- फल की इच्छा मोक्ष के, कभी न चलती साथ।
वैसा ही फल पायँ वे, भजते जिस मन पार्थ।। (11)

फल की चाहत से जो प्राणी, यदि अन्य देव को भजते हैं।
वे भी परोक्ष में हे अर्जुन! मेरी ही पूजा करते हैं।। (12)

सम, रज, तम से है गुण विभाग, कर्मो से चारो वेद सृजे।
यद्यपि मैं ही सबका कर्त्ता, फिर भी कर्त्ता मत जान मुझे।। (13)

न कर्म–फलों में लिप्त हूँ मैं, तृष्णा भी उनकी मुझे नहीं।
जो मुझे अकर्त्ता समझे हैं, वह भी फल में आसक्त नहीं।। (14)

दोहा- ज्ञान प्राप्त करके करें, ज्यों मुमुक्ष सत्कर्म।
अर्जुन! वैसे ही करो, जान कर्म का मर्म।। (15)

हैं कर्म–अकर्म के गूढ़ अर्थ, ज्ञानी भी मोहित होते हैं।
वह कर्म तुम्हें बतलाता हूँ, जिससे भव सागर तरते हैं।। (16)

कर्मों के होते तीन रूप, तीनों के ही हैं अर्थ जटिल।
फिर भी उनको समझाता हूँ, यद्यपि समझाने में मुश्किल।। (17)

जो कर्म–अकर्म समान लखें, निज कर्म में त्याग का भाव रखें।
वे बुद्धिमान, ज्ञानी जन हैं, जो भी यथार्थ का ज्ञान रखें।। (18)

हैं कर्म–अकर्म का ज्ञान जिन्हें, संकल्प कामना रहित करें।
वे ही यथार्थ में पण्डित हैं, जो "कर्म" ज्ञान से भस्म करें।। (19)

दोहा- फल–इच्छा अभिमान बिन, जो करते सत्कर्म।
आत्मलीन उस श्रेष्ठ के, होते कर्म–अकर्म।। (20)

विषय, भोग, तृष्णा तजे, तन–मन पर अधिकार।
निष्पापी वे नर करें, तन से ही व्यवहार।। (21)

जो मिला सब्र उस पर करते, जीवन रक्षा हित ही खाते।
जो हर्ष–विषाद रहित हो कर, हैं राग–द्वेष को तज पाते।।

जो–आत्मनिष्ठ रह कर अर्जुन!, निष्काम कर्म करते रहते।
वे सदा अकर्त्ता भी रह कर, बन्धन से मुक्त सदा रहते।। (22)

जो ज्ञानी अनासक्त होकर, यज्ञादि कर्म को करते हैं।
उन पुरुषों के सम्पूर्ण कर्म, बस स्वतः नष्ट हो जाते हैं।। (23)

जो ब्रह्मरूप कर्त्ता द्वारा, हैं यज्ञ सुकर्म किए जाते।
वह यज्ञ–क्रिया, हवि और अग्नि, फल ब्रह्मरूप ही हो जाते।।(24)

दोहा- अनुष्ठान पूजन करें, कुछ योगीजन तात।
ब्रह्मानल में कुछ हवन, आत्म–दहन के साथ।। (25)

संयम–पावक में कुछ योगी, इन्द्रियँ विषयों का दहन करें।
हो राग–द्वेष से मुक्त अन्य, शब्दादि विषय का हवन करें।। (26)

कुछ योगी जन योग–अग्नि में, इन्द्रिय–क्रियायें दहन करें।
कुछ संयमरूपी योग–अग्नि में, प्राण क्रियायें हवन करें।। (27)

तीर्थों में करते द्रव्य–यज्ञ, कुछ तपो यज्ञ भी करते हैं।
वेदाध्ययन से कुछ ज्ञांन यज्ञ, कुछ सूक्ष्म शुद्ध व्रत करते हैं।। (28)

कोई तो अपनी प्राण–वायु, का अधो–वायु में दहन करें।
औ' अपान वायु को ही कोई, है प्राण वायु में हवन करे।। (29)

कुछ नियमित–आहारी योगी, प्राणों में प्राण विलीन करें।
पर अर्जुन! सभी यज्ञ पण्डित, प्राणो से अपना हवन करें।। (30)

यज्ञों का ज्ञानामृत छक कर, योगी पर–ब्रह्म को पा जाते।
हैं यज्ञहीन इह लोक दुखी, परलोक कहां सुख को पाते।। (31)

वेदों में वर्णित सभी यज्ञ, मन, वचन, कर्म से ही होते।
निष्काम कर्म के बल पर ही, बन्धन से मुक्त सभी होते।। (32)

दोहा- "द्रव्य–यज्ञ" से है सदा, "ज्ञान–यज्ञ" ही श्रेष्ठ।
सब साधन हैं मोक्ष के, इसमें यही यथेष्ठ।। (33)

निष्कपट भाव याचक बन कर, सतगुरु से ज्ञान ग्रहण कर लो।
है ज्ञान–दान में सक्षम वह, तुम उसके शरणागत हो लो।। (34)

हे पाण्डव! पा कर ज्ञान तुझे, फिर ऐसा मोह नहीं होगा।
इस आत्म तत्व का निश्चय ही, परमात्म तत्व में लय होगा।।(35)

यदि घोर पाप में डूबा है, तो भी सुन कुन्तीनन्दन तू।
चढ़ ज्ञान–रूप नौका पर ही, भव सागर पार करेगा तू।। (36)

प्रज्वलित अग्नि जैसे करती, है भस्म काष्ठ को हे अर्जुन।
वैसे यथार्थ की ज्ञान अग्नि, करती है भस्म कर्म अर्जुन।। (37)

दोहा- श्रेष्ठ नहीं कुछ ज्ञान से, हे अर्जुन! इह लोक।
शुद्ध चित्त, सत्कर्म से, संभव ज्ञानालोक।। (38)

हे पार्थ! ज्ञान पाता वह ही, श्रद्धालु और गोस्वामी हो।
वह परम–धाम पद पाता है, जो तत्व ज्ञान अनुगामी हो।। (39)

जो अज्ञ रहित हैं श्रद्धा से, संशयी, भ्रष्ट हो जाते हैं।
संशयी के दोनो लोकों के, सुख सभी नष्ट हो जाते है।। (40)

हो ज्ञान योग या कर्म योग, संशयी ही नष्ट हुआ करते।
संशय से रहित आत्म–ज्ञानी, को कर्म नहीं बांधा करते ।। (41)

तुम तत्व ज्ञान से हे अर्जुन! संशय–पापी का नाश करो।
तुम कर्म–योग में हो स्थित, खुद को रण हित तैयार करो।। (श्लोक–42)

❖

मानव का जन्म ही कर्त्तव्य पालन के लिये होता है। मानव जीवन का अर्थ ही है, कर्त्तव्यों का ईमानदारी से निर्वहन। सुख एवं शान्ति के लिए कर्त्तव्य पालन अपरिहार्य है। कर्त्तव्यों के प्रति उदासीनता बरतने से हम कभी भी सुख - शान्ति और चैन से नहीं रह सकते। अतः हमें हर समय कर्त्तव्य पालन के प्रति सजग और सचेष्ट रहना है। कर्त्तव्यबोध ही हमें अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने में सहायक होता है। साथ ही मंज़िल तक पहुंचाता भी है।

ॐ

अध्याय ५
(कर्म सन्यास योग)

अर्जुन – **दोहा-** कैसे दोनों योग ही, हो सकते हैं श्रेष्ठ।
केशव! बतलाएँ मुझे, इनमें कौन यथेष्ट।। (श्लोक–1)

श्री कृष्ण – दोनों ही हैं कल्याणमयी, दोनों का लक्ष्य ज्ञान ही है।
गर श्रेष्ठ एक को चुनना है, तो अर्जुन! कर्म योग ही है।। (2)

जो राग–द्वेष, कामना–रहित, वह भी संन्यासी है अर्जुन।
निष्काम कर्म करके वह भी, हो जाता मुक्त कर्म–बन्धन।। (3)

फल ज्ञानयोग औ' कर्मयोग, अल्पज्ञ पृथक बतलाते हैं।
ज्ञानीजन दोनो सम समझें, इनसे समान फल पाते हैं।। (4)

ज्यों ज्ञान योग द्वारा ज्ञानी, हैं परम धाम को प्राप्त करें।
निष्काम कर्म से वैसे ही, साधक भी मुझको प्राप्त करें।।

जो इनमें भेद नहीं करता, वह दोनों का फल पाता है।
जो दोनो को ही एक लखे, वह ही यथार्थ का ज्ञाता है।। (5)

दोहा- निष्काम कर्म के योग बिन, दुर्लभ है संन्यास।
प्राप्त होय समभाव से, ब्रह्मरूप–संन्यास।। (6)

हैं तन–मन वशीभूत जिसके, और इन्द्रियों पर भी जय है।
वह लिप्त न होता कर्मो में, जो योगी ईश्वर में लय है।। (7)

श्लोक 8,9 – तत्वज्ञी = तत्वों को जानने वाला।

इन्द्रिय–चालन, अन्तर्चेष्टा, के कर्म, अकर्म लगें जिसको।
तत्वज्ञी त्यागे कर्मो को, अधिकार पूर्ण होता उसको।। (8,9)

स्वकर्म ईश को अर्पित कर, चाहत न मोक्ष की जो करता।
कीचड़ में कमल समान रहे, पापों में लिप्त नहीं होता।। (10)

हो मुक्त इन्द्रिय मन बुद्धि से, तन से आसक्ति रहित होता।
कर्मो से अन्तस् शुद्ध रखे, निष्काम कर्म योगी होता।। (11)

दोहा- चाह नहीं फल की जिसे, प्रभु को अर्पित कर्म।
ज्ञानी पावे मोक्ष पद, जान कर्म का मर्म।। (12)

जो देही कर्म, अकर्म करे, काया–नगरी में वास करे।
आनन्द परम पाता वह ही, जो ईश्वर से अनुराग करे।। (13)

आत्मा काया की स्वामिन है, फल रचे, न ही कुछ कहे, करे।
जो कुछ भी है माया करती, पर मूढ़ कर्म का दम्भ भरे।। (14)

होते हैं जप, तप, यज्ञ आदि, पर प्रभु कुछ ग्रहण नहीं करते।
वे अविवेकी, अज्ञानी हैं, कर्तव्य भाव मोहित होते।। (15)

जो आत्म–ज्ञान द्वारा प्राणी, अपना अज्ञान मिटाते हैं।
हो दिव्य ज्ञान से आलोकित, जग को आलोकित करते हैं।। (16)

दोहा- बुद्धि चित्त से जो सदा, रहते प्रभु में लीन।
पाप–मुक्त हो ज्ञान से, होते ब्रह्म विलीन।। (17)

चाण्डाल, शूद्र, गौ, गज, ब्राह्मण, इन सब में जो समता लखते।
ऐसे तत्वज्ञी विनयशील, निश्चित ही सद्ज्ञानी होते।। (18)

समभाव अवस्थित्त होकर वे, सब को निर्दोष लखा करते।
वे कर्मशील जीवन में ही, हैं मुझको प्राप्त हुआ करते।। (19)

श्लोक 11 – अन्तस = अन्तर्मन।

अप्रिय अनिष्ट पर शोक नहीं, प्रिय को पा हर्ष नहीं करते।
वे संशय रहित अचल मति हो, हैं परमब्रह्म आश्रय गहते।। (20)

जो विषय भोग से अनासक्त, सानंद ध्यान सुख पाता है।
हो परमब्रह्म में वह स्थित, अर्जुन! अक्षय सुख पाता है।। (21)

दोहा- अज्ञान जनित हैं भोग सब, दुख के कारण होय।
ज्ञानीजन रमते नहीं, मोह मूढ़ को होय।। (22)

जो काम, क्रोध वश में कर ले, जीवन उसका सुखमय होता।
रहता वह योगी सुखी सदा, औ' परम ब्रह्म में लय होता।। (23)

जो अन्तर मे ही रमणशील, अर्न्तमन में सुख को पाता।
हो आत्म ज्योति से युक्त वही, सच्चिदानन्द को पा जाता।। (24)

हैं पाप नष्ट जिनके अर्जुन! औ' संशय रहित जितेन्द्रिय है।
प्राणी हित रत वे संन्यासी, ही परमेश्वर को अति प्रिय है।। (25)

जो काम–क्रोध से रहित हुए, अर्न्तमन को वश में करते।
निर्वाण ब्रह्म सुख संन्यासी, दोनो लोकों में पा जाते।। (26)

कर विलग चित्त से बाह्य विषय, भृकुटि के मध्य दृष्टि करते।
सम करके प्राण–अपान श्वास, मन, बुद्धि, इन्द्रियॉ वश करते।। (27)

इस तरह इन्द्रियां रख वश में, जो प्रभु में ध्यान लगाता है।
इच्छा, भय, क्रोध रहित साधक, सर्वथा मुक्त हो जाता है।। (28)

जो तत्व ज्ञान से मुझको ही, तप यज्ञों का भोगी जाने।
निश्चित वह प्राप्त करे मुझको, निस्वार्थ भाव प्रेमी माने।। (श्लोक–29)

❖

ॐ

अध्याय ६
(आत्म-संयम योग)

श्री कृष्ण – **दोहा-** संन्यासी हो त्याग से, योगी चित्त से होय।
पार्थ! कर्म–योगी वही, जिन दोनों गुण होय।।(श्लोक–1)

• निष्काम–कर्म से ही अर्जुन! सच्चा संन्यासी बन पाता।
फल का इच्छुक विक्षेप चित्त, उसका न योग से कुछ नाता।।(2)

निष्कामी, इच्छित ध्यान–योग, ज्यों कर्म त्याग करता जाता।
त्यों चित्त समाहित होकर के, वह योग राह को है पाता।। (3)

चित्त समाहित होने पर, इन्द्रिय–आसक्त नहीं होता।
जग उसे समझता है योगी, वह योगारूढ़ हुआ करता।। (4)

है मीत आत्मबल ही अपना, जो मोक्ष मार्ग दिखलाता है।
उत्थान–पतन का मार्ग पार्थ! प्राणी ही स्वंय बनाता है।। (5)

दोहा- मन, इन्द्रिय वश में करे, वही स्वयं का मित्र।
जो ऐसा नहिं कर सके, समझे स्वयं अमित्र।। (6)

अपमान–मान, सर्दी–गर्मी, सुख–दुख में एक समान रहे।
ऐसा ही निर्विकार ज्ञानी, आनन्द अलौकिक प्राप्त करे।। (7)

जो मिट्टी, पत्थर, सोने को, सब एक समान समझता है।
बन्धन से मुक्त वह परम भक्त, वह प्राप्त मुझी को करता है।।

विज्ञान, ज्ञान के अनुभव से, संतृप्त हुआ हो मन जिसका।
वह निर्विकार सुस्थिर मन है, होता विचार उत्तम उसका।। (8)

जो शत्रु–मित्र, पापी–धर्मी में, अर्जुन! है भेद नहीं करते।
वे श्रेष्ठ पुरुष हैं कहलाते, जो साम्य भाव ही नित रखते।। (9)

मन और इन्द्रियों का विजयी, आशा–तृष्णा, संग्रह त्यागी।
एकान्त स्थान में योग करे, है ब्रह्म लीन वह बैरागी।। (10)

दोहा- मन, इन्द्रिय एकाग्र कर, करे योग अभ्यास।
कर आसन मृग चर्म का, वस्त्र और कुश–घास।। (11)

ध्यानासन पर एकाग्र चित्त, औ' ध्यान–मग्न होकर बैठे।
इन्द्रिय–क्रिया पर कर संयम, वह आत्म–शुद्धि अन्तर पैठे।। (12)

काया, सर, गर्दन सीधी रख, औ' अचल–भाव स्थिर बैठे।
हर ओर से दृष्टि हटा अविचल, नासिका का अग्र भाग देखे।।(13)

ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित हो, अविचल मन शांत चित्त भी हो।
मुझको ही सर्वश्रेष्ठ माने, मुझमें ही चित्त अवस्थित हो।। (14)

मन को है जीत लिया जिसने, वह मुझमें ध्यान लगा पाता।
हो आत्म निष्ठ ऐसा योगी, वह परम शान्ति को पा जाता।। (15)

दोहा- काया के रक्षार्थ ही, खाये, सोये पार्थ।
अतिशय, न्यूनाधिक से, नहीं योग, परमार्थ।। (16)

नियमित आहार विहार करे, और समुचित निद्रा कर्म करे।
उसको हो जाता योग सिद्ध, औ' परमधाम को गमन करे।। (17)

करके अपना एकाग्र चित्त, जो आत्मरूप हो जाता है।
हे पार्थ! वही है निर्विकार, वह ही योगी कहलाता है।। (18)

ज्यों वायु रहित स्थल–स्थित, अविचल हो दीप जला करता।
वैसे ही मुझमें समाधिस्थ, योगी का मन अविचल रहता।। (19)

हो योग–निरुद्ध यह मन अर्जुन! उपराम अवस्था को पाता।
प्रज्वलित हुई चैतन्य ज्योति से, आत्म–ज्ञान को पा जाता।। (20)

दोहा- सूक्ष्म बुद्धि से पार्थ! सुन, जो अनन्त सुख पाय।
आत्म विलय कर ब्रह्म में, कालजयी हो जाय।। (21)

परमेश प्राप्ति का लाभ अतुल, यह तथ्य जिसे स्वीकार हुआ।
वह दुख से कब विचलित होता, मन चंचलता के पार हुआ।।(22)

उपरति दुख रूप अवस्था की, हे पार्थ! योग कहलाती है।
जो योग–राह पर चलता है, कष्टों की इति हो जाती है।। (23)

हे पार्थ! त्याग दो अपनी तुम, संकल्प जनित सब इच्छाएँ।
तुम तजो वासनाएँ अपनी, करके वश इन्द्रिय क्रियाएँ।। (24)

जो धीरे–धीरे धर्म बुद्धि से, प्रभु मे ही है रमता जाता।
आत्मा में चित्त अचल करता, वह श्रेष्ठ योग सुख पा जाता।।(25)

दोहा- कर मन वश अभ्यास से, आत्मलीन हो जाय।
योगीमन तो नित्य ही, शान्ति स्वयं में पाय।। (26)

निष्पापी औ' शान्त मन, सदा ब्रह्म में लीन।
परमब्रह्म–सुख भोगता, योगी नित्य नवीन।। (27)

पाप रहित हो कर योगी, जब आत्म–ईश संयोग करे।
इस तरह ब्रह्म में लीन हुआ, आनन्द अपरिमित प्राप्त करे।।(28)

सब जगह व्याप्त चेतन अनन्त, उसमें जो स्थित हो जाता।
समदर्शी बन कर वह योगी, कण–कण मे ईश्वर को पाता।।(29)

श्लोक 20 – निरुद्ध =चित्त की वह अवस्था जिसमें चित्त करणीभूत प्रवृति को पाकर निश्चेष्ट हो जाता है
श्लोक 20 – उपराम = निवृति, संन्यास।

मुझमें एकात्म हुआ ज्ञानी, हर प्राणी में मुझको देखे।
मैं अदृश्य नहीं रहता उसको, यदि ज्ञान चक्षुओं से देखे।। (30)

मुझमें होकर जो आत्मसात्, मुझमें ही सकल विश्व देखे।
वह योगी सदा मुक्त रह कर, मेरा ही पूर्ण रूप देखे।। (31)

हर प्राणी के सुख दुख को जो, अपने समान समझे अर्जुन।
योगी वह होता परम श्रेष्ठ, जो दयावान होता अर्जुन।। (32)

अर्जुन – मधुसूदन! समत्व भाव का जो, यह ध्यान योग बतलाया है।
मन की चंचलता के कारण, ठहराव कठिन हो पाया है।। (33)

दोहा- चंचल मन वश में करूँ, अति दुष्कर यह काम।
करूँ नियन्त्रण किस तरह, वायु सदृश गतिमान।। (34)

श्री कृष्ण – निश्चय मन चंचल महाबाहु! अति कठिन इसे वश में करना।
यदि यत्न करो वैराग्य सहित, तब ही मन वश होगा अपना।।(35)

असफलता मन वश करने की, है बाधा योगी बनने में।
साधन से सहज प्राप्त होता, साधना–पंथ पर चलने में।। (36)

अर्जुन – हे केशव! योग–मार्ग में जो, असफल होकर रह जाते हैं।
वे श्रद्धायुक्त पुरुष आखिर, माधव! किस गति को पाते हैं।। (37)

हे महाबाहु! जो आश्रयहीन, जो ज्ञानमार्ग मोहित प्राणी।
बादल की भांति छितरता क्या ? पथभ्रष्ट ब्रह्मपथ अनुगामी।।(38)

दोहा- हैं समर्थ प्रभु आप ही, कर दें संशय दूर।
जिससे भ्रम जाता रहे, हो अज्ञान भी दूर।। (39)

श्री कृष्ण – जो रत रहता शुभ कर्मों में, दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।
विस्तार आत्मा का उसकी, हे अर्जुन! पुत्र रूप होता।। (40)

पथ भ्रष्ट हुए योगी को भी, हे पार्थ! स्वर्ग मिल जाता है।
कुछ काल स्वर्ग सुख बाद जन्म, श्रीमन्तो घर हो जाता है।।(41)

अथवा लेता है जन्म किसी, ज्ञानी योगी के ही कुल में।
अति दुर्लभ यह संयोग पार्थ! फिर मिले जन्म मानव कुल में।।(42)

समभाव बौद्धिक संस्कार फिर, योगी कुल में मिल जाते हैं।
उनके प्रभाव से कुरुनन्दन! वे और यत्न कर पाते हैं।। (43)

दोहा- संस्कारों से ही मिले, योग–भ्रष्ट को राह।
परमब्रह्म को प्राप्त हो, रख यत्नों की चाह।। (44)

जन्मों के संचित कर्मो से, हो जाता पाप–रहित योगी।
फिर ज्ञान–सिद्धि को पा अर्जुन! परमात्म प्राप्त होता योगी।।(45)

है योगी श्रेष्ठ तपस्वी से, औ' शास्त्र–ज्ञान के ज्ञाता से।
अर्जुन! तू ऐसा योगी बन, जो श्रेष्ठ सक़ाम के कर्ता से।। (46)

जो अर्न्तमन से प्रेरित हो, भजता रहता मुझको योगी।
वह श्रद्धावान कौन्तेय! सुनो, है परम श्रेष्ठ मुझको योगी।। (श्लोक–47)

❖

मनुष्य का मन त्रिगुणों के प्रभाव से जब-तब रंग बदलता है। कभी तमोगुणी प्रभावी है तो क्रोध या अवसाद में, कभी रजोगुणी प्रभावी है तो अहं में, यदि सतोगुणी वृत्ति हो गई, तो सब कुछ छोड़, साधना का मन करता है। हम पल-पल रंग बदलते रहते हैं। ध्यान द्वारा हम उस प्रवृत्ति को बदलकर सतोगुणी अहोभाव में सतत् जी सकते हैं।

ॐ

अध्याय ७

(ज्ञान विज्ञान योग)

श्री कृष्ण – **दोहा-** जानोगे जिस भाव से, सबका आत्म स्वरूप।
तुमको बतलाता सखे! गूढ़ तत्व निज रूप।। (श्लोक–1)

उस रहस्य ज्ञान को जान पार्थ! ज्ञातव्य शेष क्या रहता है।
अति फलदायक वह तत्व ज्ञान, आनन्द सहज ही देता है।। (2)

होता सहस्त्र में कोई एक, जो मोक्ष–सिद्धि का यत्न करे।
जो मेरे प्रति तत्पर होकर, नित मेरा चिन्तन मनन करे।। (3)

नभ, जल, पावक और वायु, जिन पर सब जग आधारित है।
फिर मन, बुद्धि और अहंकार, से मेरी प्रकृति विभाजित है।। (4)

यह आठ तत्व से युक्त प्रकृति, अर्जुन! अपरा कहलाती है।
धारण करती सम्पूर्ण जगत, वह परा पुकारी जाती है।। (5)

सम्पूर्ण जगत के जीवों की, उत्पत्ति इन्हीं दो से होती।
मैं ही तो जग का सृष्टि बिन्दु, औ' प्रलय मुझी से तो होती।। (6)

मैं एक मात्र जग का कारण, हूँ व्याप्त सृष्टि के कण–कण में।
कोई न दूसरी वस्तु यहां, मैं व्याप्त जगत–स्पंदन में।।

मैं सूत्र हूँ मुझमें गुंथे हुए, मणियों से जग के रूप सभी।
सब कुछ तो व्याप्त मुझी में है, मुझसे है विलग नहीं कुछ भी।। (7)

दोहा- वेदों में हूँ ओंकार, मुझमें ही सब वेद।
समग्र सृष्टि में व्याप्त मैं, पार्थ! नहीं कुछ भेद।। (8)

हूँ गंध मैं पावन धरती में, हूँ पावक–तेज–रूप मैं ही।
सम्पूर्ण प्राणियों में जीवन, तप–रूप तपस्वी का मैं हीं।। (9)

हूँ बुद्धिमान की बुद्धि पार्थ! तेजस्वी का हूँ तेज सदा।
प्राणी का बीज सनातन मैं, चर–अचर सभी में बसूँ सदा।। (10)

बलवानों का मैं हे अर्जुन! आसक्ति, काम–रहित हूँ बल।
धर्मानुरूप सब भूतों में, हूँ समाविष्ट रहता पल–पल।। (11)

सत, रज, तम ये तीनों ही गुण, उत्पन्न सदा होते मुझसे।
मैं उनके वश में नहीं पार्थ! वे पराभूत मेरे वश से।। (12)

दोहा- राग–द्वेष में लिप्त जो, उनमें शून्य विवेक।
मुझको भी जाने नहीं, अज्ञानी अविवेक।। (13)

है त्रिगुणमयी मेरी माया, इससे मोहित यह जग सारा।
मैं इन से परे हूँ अविनाशी, बस यही तथ्य सबसे न्यारा।।

दुस्तर है बड़ी योग माया, अलौकिक और अद्‌भुत भी है।
जो मुझे निरन्तर भजते हैं, सब की सद्‌गति हो जाती है।। (14)

आसुरी वृत्ति में लिप्त रहें, हैं मूढ़ अधर्मी, अज्ञानी।
वे मेरी शरण नहीं आते, मायामय हैं वे अज्ञानी।। (15)

मुझको भजते जिज्ञासु आर्त, अर्थार्थी और जो निष्कामी।
वे चारों ही हैं प्रिय मुझको, कहलाते वे सतपथ–गामी।। (16)

सुन, एक्य भाव से जो ज्ञानी, मुझमें ही लीन रहा करता।
वह मेरा आत्मरूप अर्जुन! वह ज्ञानी मुझे प्रिय होता।। (17)

श्लोक 14 – माया = प्रभु की ऐश्वर्यमयी प्रभावशाली शक्ति ।

शेष तीन भी उत्तम हैं, वे भजन नित्य करते मेरा।
वे आत्मरूप मुझमें स्थित, वह अति उत्तम यह मत मेरा।। (18)

जन्मों जन्मों सत्कर्मों से, ज्ञानी जब आत्मरूप होता।
अति दुर्लभ है वह महत् पुरुष, वह निश्चय मुझमें लय होता।।(19)

दोहा- भोग–कामना–युक्त जो, उनका नष्ट विवेक।
लोक–नियम धारण करें, पूजें देव अनेक।। (20)

जो भक्त सकामी देवों की, श्रद्धा से पूजा है करता।
उन देवों में ही मैं अर्जुन! उसकी श्रद्धा स्थिर करता।। (21)

देवों का करके आराधन, निश्चय ही फल को पाता है।
सकाम भक्त भी इस प्रकार, इच्छित भोगों को पाता है।। (22)

वे अल्प बुद्धि वाले प्राणी, जब उपक्रम सब करते ही हैं।
तब फिर अनन्त–फल प्राप्ति हेतु, क्यों ?मेरी शरण न गहते हैं।।(23)

मैं पार्थ! अजन्मा अविनाशी, परमात्म रूप घट घट रहता।
इन्द्रियातीत सच्चिदानन्द, माया से मैं प्रगटा करता।। (24)

हूँ पार्थ! अजन्मा अविनाशी, रहता अदृश्य निज माया से।
भक्तों के लिये प्रकट होता, अज्ञानी जान सके न इसे।। (25)

जग में जितने प्राणी अर्जुन! हैं, हुए और होने को हैं।
ये भक्ति रहित जन क्या समझें, संज्ञान सभी का मुझको है।।

दोहा– अर्जुन! मेरे तत्व से, प्राणी हैं अंजान।
वे मुझको भजते नहीं, कारण है अज्ञान।। (26)

हो राग–द्वेष के वशीभूत, सुख–दुख द्वन्दों में जो फँसते।
अर्जुन! वे प्राणी अज्ञानी, जो कभी न मुझको हैं भजते।। (27)

निष्काम भाव से कर्मनिष्ठ, के पाप नष्ट हो जाते हैं।
ये पुरुष द्वन्द मुक्त होकर, परमात्म तत्व को पाते हैं।। (28)

जो जरा–मृत्यु से मुक्ति हेतु, शरणागत मेरी होते हैं।
एकाग्र चित्त हो वही पुरुष, निश्चय ही मुझको पाते है।। (29)

अधिभूत, अधियज्ञ रूप मेरे, अधिभूत रूप को पहचानें।
वे अन्त समय दृढ़ चित्त पुरुष, कर याद मुझे मुझको पा लें।।(श्लोक–30)

❖

इस जगत के सभी चराचर के लिए उत्तम ज्ञान है। प्रत्येक पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, तथा मनुष्य में आत्म तत्व है आत्मा परमात्मा का अंश है। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार फल भोगता है। कर्म के अनुसार आगे की यात्रा में विकास करता है। जीने के दो रास्ते हैं, 'श्रेय और प्रेय'। जो भौतिक भोगों में फंसा है वह 'प्रेय' मार्ग है और जो अच्छे कर्म करता है वह 'श्रेय'। जो माता-पिता व गुरू की आज्ञा का पालन करता है, ज्ञान अर्जन में लगा रहता है और भगवान का भजन करता है। वह श्रेय मार्ग है। जो आत्म कल्याण के लिए अच्छे गुणों को अपनाता है, अच्छे कर्मों को करता है वह जीवन मृत्यु के बन्धन से छुटकारा पाता है।

ॐ

अध्याय ८
(अक्षर ब्रह्म योग)

अर्जुन – हे केशव! मुझको समझाएँ, "अध्यात्म–कर्म" क्या होते हैं।
अधिभूत कहो किसको कहते, अधिदैव कहो क्या होते हैं।। (श्लोक–1)

हे कौन अधियज्ञ तन में होता, कैसे है उसमें बस जाता।
हे केशव! शुद्ध आत्म द्वारा, तुमको कैसे जाना जाता।। (2)

श्री कृष्ण – जीवात्म ही है अध्यात्म पार्थ! सर्वत्र व्याप्त अविनाशी है।।
यह तथ्य उसी के हृदय बसा, जो भक्ति भाव अभिलाषी है।।

देवों की पूजा–अर्चन को, जो यज्ञ औ' दान किये जाते।
द्रव्यादि त्याग के कृत्य पार्थ! हैं कर्म नाम को पा जाते।। (3)

जन्म–मरण आधार भाव, नश्वर 'अधिभूत' कहा जाता।
जिस 'पुर' शरीर में पुरुष रहे, वह 'अधिदैव' है कहलाता।।

मैं यज्ञ–अधिष्ठा, यज्ञ–रूप, मैं ही "अधियज्ञ" हूँ कहलाता।
काया से यज्ञ सिद्ध होता, काया–स्थित माना जाता।। (4)

दोहा- तजता अपने प्राण को, करके मेरा ध्यान।
विष्णु–परमपद प्राप्त हो, शंका नहीं सुजान।। (5)

जिस भाव रूप का अन्त समय, करता है प्राणी अनुचिन्तन।
यह देह त्याग कर पाता है, बस उसी रूप का शुचि दर्शन।।(6)

कर सतत् मेरा चिन्तन अर्जुन! जो क्षत्रिय धर्म वह युद्ध भी कर।
अर्पित मन–बुद्धि युक्त होकर, पाये मुझको सन्देह न कर।। (7)

श्लोक 4 – अधिदैव = परमेश्वर, देवताओं का भी अधिपति।
श्लोक 6 – शुचि = पवित्र।

मुझमें हो एकनिष्ठ अर्जुन! जो करता मेरा ही चिन्तन।
वह दिव्य पुरुष योगी होता, कटते उसके सारे बन्धन।। (8)

सर्वज्ञ अनादि नियन्ता जो, सब का धारण–पोषण करता।
रवि–भांति नित्य चेतन प्रकाश, अज्ञान तमस को वह हरता।।(9)

जो योगी भक्ति–योग बल से, प्राणों को भृकुटि मध्य रखता।
निश्छल मन से स्मरण करे, परब्रह्म रूप को पा जाता।। (10)

आसक्ति रहित हो यत्नशील, वेदज्ञ ध्यान जिसका धरता।
वह मर्म परमपद सुन अर्जुन! उस गूढ़ तत्व को मैं कहता।। (11)

दोहा- विषय मुक्त कर इन्द्रियां, मन को उर में साध।
प्राण शीश के मध्य धर, ध्यान करे निर्बाध।। (12)

'ओम' है अक्षर ब्रह्म पार्थ! उच्चारण करते जो इसका।
तज काया परमधाम पाते, कर अन्तकाल सुमिरन इसका।। (13)

हो एकनिष्ठ, एकाग्रचित्त, नित मेरा चिन्तन करता है।
मैं उसको सदा सुलभ अर्जुन! जो मुझमें रमता रहता है।। (14)

हैं सिद्धि प्राप्त सन्यासी जो, वे मोक्ष–रूप मुझको पाते।
त्रय ताप रहित होकर अर्जुन! वे पुनरागमन नहीं पाते।। (15)

यह ब्रह्म लोक 'औ' सभी लोक, पुनरावर्ती लक्षण इनका।
जो मुझको प्राप्त हुआ करते, होता फिर जन्म नहीं उनका।। (16)

अर्जुन – **दोहा-** क्यों होता पुनरागमन, लोकों में बतलायँ।
काल–अवधि का मर्म भी, प्रभु मुझको समझायँ।।

श्री कृष्ण – जो एक दिवस है ब्रह्मा का, होता है एक सहस्त्र युग का।
उतनी ही रात्रि की अवधि पार्थ! योगी रहस्य समझे इसका।।(17)

श्लोक 9 – नियन्ता = अन्तर्यामी रूप से सब प्राणियों पर शुभ और अशुभ कर्मानुसार शासन करने वाला।
श्लोक 12 – निर्बाध = निरन्तर।

दिन के प्रवेश के समय पार्थ! है प्राणी सभी जन्म लेते।
अव्यक्त देह से उसी काल, उत्पन्न सभी प्राणी होते।।

जिस काल रात्रि का आगम हो, अवसान दिवस का जब होता।
ब्रह्मा की सूक्ष्म देह में तब, अस्तित्व सभी का लय होता।। (18)

उत्पन्न हुए सारे प्राणी, प्रकृति के वशीभूत रहते।
लय होते निशि के आगम पर, उत्पन्न प्रात में फिर होते।। (19)

सच्चिदानन्द धन पूर्णब्रह्म, अव्यक्त भाव में नित रहता।
हैं नाशवान सारे प्राणी, पर वह तो अविनाशी रहता।। (20)

जो हैं अक्षर अव्यक्त भाव, बस वही परमगति है अर्जुन!
पा मनुज न फिर पीछे लौटे, है मेरा परमधाम, अर्जुन।। (21)

दोहा- परम–आत्म में व्याप्त है, सकल जगत यह पार्थ।
मिलता भक्ति अनन्य से, समझो इसे यथार्थ।। (22)

जब देह त्याग करके प्राणी, फिर से वे देह नहीं धरते।
वह भी बतलाता काल भेद, जब मर कर पुर्नजन्म लेते।। (23)

जो शुक्त पक्ष के दिवसकाल, उत्तरायण में काया तजते।
वे ज्ञानयोग और देवकृपा से, ब्रह्मलोक कम से जाते।। (24)

जो कृष्ण पक्ष की रात्रिकाल, दक्षिणायन में काया तजते।
वे कर्मफलों और देवकृपा से, स्वर्गलोक कम से जाते।। (25)

है देवयान यह शुक्ल पक्ष, उपलब्ध परम गति होती है।
औ' कृष्णपक्ष है पितृ यान, गति जन्म–मृत्यु नहिं रुकती है।। (26)

दोनो ही मार्ग के ज्ञानी, योगीजन मोह नहीं करते।
हे पार्थ! बनों तुम भी योगी, भवसागर पार वही होते।। (27)

इन तथ्यों को माने यथार्थ, जो करता अनुष्ठान योगी।
वह भोगे श्रेष्ठ कर्म–फल को, वह परमब्रह्म पाता योगी।। (श्लोक–28)

❖

ॐ

अध्याय ६
(राज विद्याराज गुह्य योग)

श्री कृष्ण – **दोहा**- आत्मरूप सारा जगत, परमब्रह्म है एक।
मत ज़िनके विपरीत हैं, मिले न जग में टेक।।

• मन, बुद्धि, दृष्टि से दोष रहित, तुम भक्त मेरे कुन्तीनन्दन।
इसलिए मर्म वह बतलाता, कट जाते जन्म–मृत्यु बन्धन।। (श्लोक–1)

है ब्रह्मज्ञान देदीप्यमान, उत्तम पावन उत्कृष्ट भी है।
करता जन्मों के पाप नष्ट, फलदायक श्रेष्ठ सुलभ भी है।। (2)

जो नास्तिक भोगासक्त पुरुष, वे मुझको प्राप्त नहीं करते।
वे नरक और नश्वर जग में, पशु–पक्षी बन भटका करते।। (3)

मैं निराकार परमेश्वर हूँ, स्थित मुझमें सब प्राणी हैं।
जो समझें मैं प्राणी में हूँ, हे अर्जुन! वे अज्ञानी हैं।। (4)

हैं प्राणी कभी नहीं मुझमें, फिर भी करता उनका पालन।
यह करता सूक्ष्म–भाव से मैं, बन आत्म–तत्वदर्शी, अर्जुन।। (5)

दोहा- ज्यों अनन्त आकाश में, उत्तम वायु असीम।
त्यों ही मुझ परमात्म में, प्राणी हैं निस्सीम।। (6)

हे कुन्तीनन्दन! प्रलय काल, मुझमें सब लय हो जाते हैं।
जब सकल सृष्टि को रचता मैं, तब सभी प्रकट हो जाते हैं।।(7)

श्लोक 1.– टेक = सहारा।

जो वशीभूत नित रहते हैं, अज्ञान, अविद्या दोषों से।
उनको रचता हूँ बार–बार, उनके कर्मों के लेखे से।।

अर्जुन – यों पाप–पुण्य के लेखे से, जब आप विषम रचना करते।
क्या पुण्य–पाप से भी केशव, सम्बन्ध आपके भी होते।।

श्री कृष्ण – हे अर्जुन! उन कर्मो में मैं, निर्लिप्त भाव से हूँ रहता।
आसक्ति रहित होने से ही, बन्धन से मुक्त सदा रहता।। (8)

कैसे हो सकता उदासीन, जब खुद ही उनको रचता हूँ।
इस विषम–प्रश्न की शंका का, इस तरह निवारण करता हूँ।। (9)

मुझसे प्रेरित हो प्रकृति रूप, है सकल चराचर को रचता।
हूँ एक मात्र अदृश्य–रूप, अर्जुन! बस देखा ही करता।। (10)

हूँ सूक्ष्म–रूप सब में व्यापक, मैं आत्मरूप परमेश्वर हूँ।
उद्धार जगत का करने को, होता माया से गोचर हूँ।।

इस परम–तत्व को हे अर्जुन! अज्ञानी नहीं समझते हैं।
वे मानव मुझको तुच्छ समझ, संसार–पाश में भ्रमते हैं।। (11)

आशा है व्यर्थ जिन्हें अर्जुन! जब कर्म–ज्ञान भी व्यर्थ कहें।
आसुरी मोहिनी प्रकृति पार्थ! उसको वे धारण किये रहें।। (12)

दोहा- आश्रित दैवी प्रकृति के, मुझे सनातन जान।
ज्ञानी जन भजते मुझे, अव्यय रूप सुजान।। (13)

दृढ़ निश्चय वाले भक्त सुजन, मेरा गुणगान सतत् करते।
करते हैं बारम्बार नमन, मुझमें अनन्य भक्ति रखते।। (14)

कुछ ज्ञान यज्ञ में रत रह कर, एकत्वभाव पूजन करते।
कुछ सूर्य और भगवान विष्णु, कुछ विश्व रूप पूजन करते।।

श्लोक 11 – पाश = जाल।
श्लोक 13 – अव्यय = नाश रहित।

अर्जुन– जब विविध रूप से सभी भक्त, करते रहते पूजन–अर्चन।
किस विधि से आपकी हो पूजा, मुझको बतलाओ मधुसूदन।। (15)

श्री कृष्ण – मैं यज्ञ भी हूँ कौन्तेय! सुनो, कर्ता, घृत, अन्न, मंत्र भी हूँ।
औषधि भी हूँ, पावक भी हूँ, और हवन रूप क्रिया भी हूँ।। (16)

कौन्तेय! कर्म का फलदाता, मैं माता–पिता–पितामह हूँ।
ज्ञातव्य पवित्र मैं ओंकार, ऋग, साम, यर्जुवेदमय हूँ।। (17)

मैं कर्म–फलों का दाता हूँ, सब का स्वामी पालन–कर्ता।
• हूँ साक्षी कर्म अकर्मों का, मैं ही सब का आश्रय दाता।।

प्रति उपकारों की चाह नहीं, मैं सब का हित–अभिलाषी हूँ।
उत्पत्ति, प्रलय–आधार हूँ मैं, औ' बीजरूप–अविनाशी हूँ।। (18)

मैं सूर्यरूप जग तप्त करूँ, वर्षा को आकर्षित करता।
मैं ही अमृत, मैं मृत्यु–रूप, सत्–असत् रूप में मैं रहता।। (19)

वेदों के ज्ञाता सत्कर्मी, स्वर्गेच्छा हेतु यज्ञ करते।
निज पुण्य फलों से स्वर्ग–लोक, पा दिव्य–भोग वे भी करते।।(20)

दोहा- क्षय होने पर पुण्य का, फिर आते इस लोक।
पुर्नजन्म को प्राप्त कर, दुख भोगें इहि लोक।। (21)

निष्काम भाव से संन्यासी, जो करते मेरा ही चिन्तन।
मैं उनके योग–क्षेम दोनों, खुद ही लखता, कुन्तीनन्दन।। (22)

जो अन्य देव को भी श्रद्धा, से भजते हैं, कुन्तीनन्दन।
अप्रत्यक्ष रूप में मेरा ही, करते हैं अर्चन औ' वन्दन।।

हे पार्थ! किन्तु ऐसा पूजन, विधि–सम्मत कभी नहीं होता।
विधि से अनभिज्ञ उपासक का, अर्जुन! उद्धार नहीं होता।।

श्लोक 16 – कौन्तेय = कुन्तीपुत्र, अर्जुन।

अर्जुन – दोहा- विधि–सम्मत है क्यों नहीं, वह पूजन भगवान।
बतलाएँ केशव! मुझे, दूर करें अज्ञान।। (23)

श्री कृष्ण – सब यज्ञ–फलों का हे अर्जुन! मैं स्वामी और भोग–कर्ता।
अज्ञानी, अविधि यज्ञ करके, फल का अधिकार नहीं रखता।।

अविधि यज्ञ के द्वारा भी, श्रद्धा से करते जो पूजन।
कैसे उनको फल–यज्ञ मिले, मैं वही बताता हूँ अर्जुन।। (24)

जो जिन देवों को भजते हैं, वे उन देवों को पाते हैं।
पितरों पर जो श्रद्धा रखते, वे पितरों को ही पाते हैं।।

भूतों को भजने वाले जो, भूतों को ही वे पाते हैं।
मुझको ही जो भजते प्राणी, बस वे ही मुझको पाते है।।

अज्ञानी मुझे नहीं भजते, वे अल्प फलों को पाते हैं।
पाकर अनन्त फल भक्त मेरे, भवसागर से तर जाते हैं।। (25)

दोहा- मिलते हैं जिस भक्ति से, भक्तजनों को आप।
क्या वह है अतिशय कठिन, मर्म बतायें आप।।

श्री कृष्ण – मुझको श्रद्धा से "शुद्ध–मना", जो पत्र–पुष्प अर्पित करता।
है पार्थ! मुझे वह भक्त प्रिय, मैं उसको स्वंय ग्रहण करता।। (26)

जो तुम खाते हो, पीते हो, तप, यज्ञ, दान जो करते हो।
वह सब मुझको अर्पण कर दो, निष्काम–कर्म जो करते हो।। (27)

सन्यास–योग से युक्त तेरा, अर्जुन! तब अर्न्तमन होगा।
जीवन में बन्धन–मुक्त हुआ, फिर अन्त लीन मुझमें होगा।। (28)

समभाव व्याप्त सब जीवो में, अप्रिय–प्रिय का भेद नहीं।
जो प्रेम सहित भजते मुझको, मैं भी हूँ उनसे विलग नहीं।। (29)

यदि घोर दुराचारी अर्जुन! अपने दुष्कर्मों को तजता।
वह भक्ति–भाव–तल्लीन हुआ, कौन्तेय! मुझे अति प्रिय लगता।।

अर्जुन – **दोहा-** दुष्कर्मी का क्यों प्रभो, लेते हो हित साध।
क्यों केशव! उनको मिले, उत्तम फल निर्बाध।। (30)

श्री कृष्ण – होकर वह धर्मव्रती अर्जुन ! परम शान्ति पा जाता है।
अर्न्तमन करे समर्पित जो, वह पार्थ! अमर हो जाता है।। (31)

चाहे वह स्त्री, वैश्य, शूद्र, जो पाप योनि में जन्मा है।
यद्दि मेरी शरण हुआ अर्जुन! तो उसे मोक्ष मिल जाना है।। (32)

जो पुण्य योनि में ब्राह्मण हैं, सब ऋषि, मुनि, भक्त, तपी योगी।
देह त्याग परम गति को पाते, शरणागत हुए सभी भोगी।। (33)

हे अर्जुन! सुख परित्याग करो, अपने क्षण भंगुर जीवन का।
निश्चय मानव–जीवन दुर्लभ, क्यों मोह किसी नश्वर तन का।।

मुझमें ही अचलमना होकर, श्रद्धा भक्ति से नमन करो।
मेरी शरणागत हो अर्जुन! मुझमें ही अपना चित्त धरो।।

मुझमें जो आत्मलीन होगा, वह मुझे प्राप्त हो जायेगा।
मैं ही प्राणी की श्रेष्ठ सुगति, वह परम शान्ति पा जायेगा।। (श्लोक–34)

❖

दान एक ऐसी साधना है जिसके माध्यम से हम अपने आप आध्यात्मिक, मानसिक, चारित्रिक सद्गुणों का अर्जन कर सकते हैं। जहाँ दिया नहीं जाता, व्यय नहीं किया जाता, वहाँ धीरे-धीरे सम्भावनाएँ कम हो जाती है। मृत्यु के समय सब यहीं छूट जाता है। मृत्यु प्राप्त करने वाले का मित्र 'दान' है, वही साथ निभाता है।

ॐ

अध्याय १०
(विभूति योग)

श्री कृष्ण – **दोहा-** तत्वों और विभूति का, किया है पूर्व बखान।
हो चिन्तन जिस भाव से, सुनिये वीर सुजान।।

जिससे मेरे वचनामृत का, प्राणी है पान किया करता।
मैं पात्र जान तेरे हित में, उस परम रहस्य को हूँ कहता।।(श्लोक–1)

क्योंकर जाने उत्पत्ति मेरी, ब्रह्मादि देवता ऋषिगण भी।
मैं स्वंय मूल कारण उनका, प्रकटा माया से कभी–कभी।। (2)

मैं पार्थ! अनादि, अजन्मा हूँ, तीनों लोकों का परमेश्वर।
तत्वज्ञी जो जाने इसको, वे पाप–मुक्त होते सत्वर।। (3)

जो वस्तु, भाव, सम्वेगों को, अति सूक्ष्म रूप में पहचाने।
अर्न्तमन की उस ज्ञान शक्ति, को बुद्धि नाम से जग जाने।।

निश्चया – शक्ति औ' तत्व ज्ञान, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय दमन।
मूढ़ता रहित मन का निग्रह, सुख–दुख में हो समभाव गहन।। (4)

उत्पत्ति–प्रलय, भय–अभय सभी, औ' भाव अहिंसा का समता।
दान, तुष्टि, तप, यश–अपयश, हर भाव मुझी से है रमता।। (5)

अर्जुन! जिनकी चर अचर प्रजा, औ जिन्हें प्रजापति कहते हैं।
यह सब मुझमें है निहित पार्थ!, मुझ में परमेश्वर रहते हैं।। (6)

अर्जुन – **दोहा-** सब पैदा हैं आपसे, ज्ञान, ध्यान औ' बुद्धि।
यह कहने से आपका, क्या आशय है सिद्ध।।

श्री कृष्ण – जो तत्व ज्ञान से हे अर्जुन!, मेरी विभूति को पहचाने।
तत्वज्ञ वही अविचल होता, इसमें न लेश संशय माने।। (7)

मैं सर्जक, सृष्टि नियंत्रक हूँ, मैं कर्मफलों का भी दाता।
अर्जुन! मैं ही हूँ परम ब्रह्म, तत्वज्ञ ही मुझको भज पाता।। (8)

आत्मार्पित, एकनिष्ठ होकर, जो मुझमें चित्त लगाते हैं।
गुणगान मेरा करते रहते, मुझमें ही रमते जाते हैं।। (9)

मैं तृष्णा रहित भक्त जन को, हे अर्जुन! तत्व ज्ञान देता।
जिससे वह होकर आत्मरूप, मुझ परमेश्वर को पा लेता।। (10)

अर्जुन – **दोहा-** क्या कारण है किसलिए, बतलाएँ प्रभु आप।
तत्व–ज्ञान ही भक्त को, क्यों देते हैं आप।।

श्री कृष्ण – मेरे स्वरूप का चिन्तन जो, एकाग्र चित्त करते अर्जुन।
कल्याण हेतु ही उनके मैं, आलोकित करता अर्न्तमन।।

मैं एकीभाव से स्थित हूँ, अर्जुन! उनके अर्न्तमन में।
है कृपा दृष्टि उन पर मेरी, मैं नित्य विचरता हूँ उन में।।

मैं तत्व ज्ञान–दीपक द्वारा, अज्ञान–तमस को दूर करूँ।
करता उज्जवल अर्न्तमन मैं, अविरत संशय भ्रम दूर करूँ।। (11)

अर्जुन – परमब्रह्म हो, परमधाम हो, और परम पावन तुम हो।
तुम आदि, सनातन दिव्य पुरुष, सर्वव्यापक और अजन्मा हो।।(12)

सब देव, ऋषि, नारद, देवल, औ' असित, व्यास यह कहते हैं।
और आप स्वंय भी तो केशव! मुझसे ऐसा ही कहते हैं।। (13)

केशव! जो कहा आपने है, वह सत्य मुझे सब लगता है।
हो देव या कि दानव केशव!, लीला से भिज्ञ न होता है।। (14)

हो तुम्हीं सृष्टि के सृजक प्रभो!, देवाधिदेव हो जगतपिता।
यह भेद किसी को ज्ञात कहाँ, निज प्रभुता के तुम ही ज्ञाता।। (15)

प्रभु! मात्र आप ही सक्षम हैं, अपनी महिमा के वर्णन में।
औ' जो कुछ प्रकट किया केशव!, तुमने त्रिलोक के सर्जन में।। (16)

दोहा– कैसे समझूँ आपको, भक्ति करूँ किस रूप।
कौन भाव पाऊँ तुम्हें, कहिए आप अनूप।। (17)

अपनी विभूति औ' योगशक्ति, विस्तार सहित प्रभु समझाएँ।
मैं तृप्त नहीं हो पाया हूँ, अमृत वचनों को दुहराएँ।। (18)

श्री कृष्ण – मेरी विभूतियाँ हैं अनन्त, है अन्तहीन उनका वर्णन।
विस्तार न उनका संभव है, सुन सार रूप, कुन्तीनन्दन।। (19)

मैं सभी प्राणियों में अर्जुन!, मैं आत्म–रूप में रहता हूँ।
मैं आदि मध्य औ' अन्त सभी, का तथ्य तुझी से कहता हूँ।। (20)

मैं ज्योतिपुंज हूँ दिनकर सा, हूँ विष्णु अदिति के पुत्रों में।
मैं मरीचि हूँ वायु देव, मैं शशि अधिपति नक्षत्रों में।। (21)

वेदों में मैं हूँ सामवेद, देवों में इन्द्र देव मैं हूँ।
जीवों में मैं ही जीवन हूँ, इन्द्रियों में भी मैं ही मन हूँ।। (22)

एकादश रुद्रों में शंकर, राक्षस, यक्षों में मैं "कुबेर"।
आठो वसुओं में अग्नि रूप, गिरि शिखरों में पर्वत सुमेरु।। (23)

हे पार्थ! देवगुरु ब्रहस्पति मैं, सेनापति कार्तिकेय मैं ही।
मैं हूँ जलाशयों में समुद्र, हूँ सकल–सृष्टि अधिपति मैं ही।। (24)

श्लोक 21 – अदिति = दक्ष प्रजापति की कन्या तथा देवताओं की माता। अधिपति = स्वामी, मुखिया।

मैं एकाक्षर "ओंकार" श्रेष्ठ, महर्षियों में "भृगु ऋषि" मैं हूँ।
जप–यज्ञ श्रेष्ठ हूँ यज्ञो में, मैं ही दृढ़ स्थिर हिमगिरि हूँ।। (25)

वृक्षों में हूँ "पीपल" पवित्र, देवर्षियों में "नारद–मुनि" हूँ।
गन्धर्व श्रेष्ठ चित्ररथ मैं, और सिद्ध श्रेष्ठ "कपिल मुनि" हूँ।। (26)

"उच्चैःश्रवा" मैं इन्द्र–अश्व, अमृत से जन्म हुआ मेरा।
मैं गज समूह में 'ऐरावत', है श्रेष्ठ रूप सब में मेरा।।

मुझको नराधिपति जान पार्थ! इस भांति प्राणियों का स्वामी।
इस निखिल विश्व का सत्ताधिप, है सब ही मेरे अनुगामी।। (27)

अस्त्रों में हूँ मैं वज्र पार्थ! औ' कामधेनु गौओं में हूँ।
सर्पो में वासुकि सर्पराज, मैं सृजन–हेतु कन्दर्प भी हूँ।। (28)

नागों में हूँ मैं शेषनाग, जलचर अधिपति मैं वरुण देव।
पितरों में पितर अर्यमा हूँ, दण्डित–कर्त्ता यमराज देव।। (29)

मैं दैत्य–जना प्रहलाद भक्त, मैं समय काल की गणना में।
पशुओं में हूँ पशुराज सिहँ, मैं गरुड़ विहग नभ मण्डल में।। (30)

मैं 'वायु–रूप' पावन कर्ता, "श्री राम" शस्त्रधारी में हूँ।
मैं मीन–मक्ष में मगरमच्छ, नदियों में पावन "गंगा" हूँ।। (31)

सर्गो का आदि अन्त में ही, मैं हीं हूँ मध्य सुनो अर्जुन।
विद्याओं में मैं ब्रह्म–ज्ञान, निर्णायक वाद–द्वन्द, अर्जुन।। (32)

दोहा- वर्ण रूप अकार का, हूँ समास में द्वन्द।
महाकाल हूँ काल का, जगपालक निर्द्वन्द।। (33)

श्लोक 28 – कन्दर्प = कामदेव।
श्लोक 31 – मक्ष = समूह।
श्लोक 32 – वाद = शास्त्रार्थ निश्चित सिद्धान्त।
श्लोक 34 – उद्‌भव = उत्पत्ति। श्री = शोभा, कान्ति। मेघा = बुद्धि।
धृति = धारण करने की किया, मन की दृढ़ता।

मैं मृत्यु सर्वनाशी अर्जुन! भावी उद्‌भव का कारण मैं।
नारी की कीर्ति श्री मैं हूँ, स्मृति, धृति, मेघा क्षमा हूँ मैं।। (34)

हूँ श्रुतियों में मैं वृहत साम, गायत्री छन्द मैं छन्दों में।
मासों में हूँ मैं मार्गशीर्ष, ऋतुराज वसन्त हूँ ऋतुओं में।। (35)

तेजस्वियों का हूँ "तेज" पार्थ! उद्यमशीलों का "उद्यम" हूँ।
सात्विक पुरुषों का "सत्य भाव", औ' "द्यूत भाव" कपटी का हूँ।।(36)

मैं वृष्णि वंश में वासुदेव, मैं सखा तुम्हारा जो अर्जुन।
मैं ही तो धनंजय पाण्डव में, तुझ में तो स्थित हूँ अर्जुन।।

हूँ वेद व्यास मैं मुनियों में, औ' शुक्राचार्य हूँ कवियों में।
हर प्राणी में हूँ व्याप्त सखे!, औ' सृजन–विलय की लहरों में।। (37)

हूँ दमनकार की "दमन–शक्ति", मैं "न्याय" विजय–कामी का हूँ।
गोपनीय भाव का मौन पार्थ! मैं तत्व–ज्ञान का "ज्ञानी" हूँ।। (38)

इस जग के सभी प्राणियों की, उत्पत्ति का मैं कारण हूँ।
चर–अचर नहीं विरहित मुझसे, सबका मैं ही निर्धारण हूँ।। (39)

दिव्या विभूतियों का मेरी, है अर्जुन! कोई अन्त नहीं।
अति सूक्ष्म रूप में कहा सखे!, विस्तार का कोई अन्त नहीं।। (40)

ऐश्वर्य, कान्ति औ' शक्तियुक्त, जो दृश्यमान वस्तुएँ सभी।
उत्पत्ति मुझी से जान पार्थ! मेरे ही तेज के अंश सभी।। (41)

अब अधिक जानने मे अर्जुन! क्या और प्रयोजन तेरा है।
मैं आत्म–रूप हर प्राणी में, मुझ पर आधृत जग सारा है।। (श्लोक–42)

❖

श्लोक 42 – आधृत = आधारित।

ॐ

अध्याय ११

(विश्व-रूप दर्शन योग)

अर्जुन – **दोहा-** परम अनुग्रह आपका, दिया मुझे सद्–ज्ञान।
हे मधुसूदन! हो गया, दूर मेरा अज्ञान ।। (श्लोक–1)

उत्पत्ति विलय भी जीवों की, है भली भॉति समझी केशव।
अविनाशी रूप आप ही हैं, जानी मैने महिमा केशव ।। (2)

जैसा बतलाया निज स्वरूप, मधुसूदन! सब वैसा ही है।
सन्देह न इसमें अब कुछ है, जग व्याप्त रूप वैसा ही है।।

उत्कट अभिलाषा है प्रभु अब, बस रूप सुदर्शन–अर्चन की।
ऐश्वर्य ज्ञानबल तेजयक्त, प्रभु रूप अलौकिक दर्शन की ।। (3)

हे मधुसूदन! यदि आप मुझे, दर्शन का पात्र समझते हैं।
वह रूप दिखायें अविनाशी, ऋषि मुनि भी जिसे तरसते हैं।। (4)

संजय – **दोहा-** सुने कृष्ण ने पार्थ के, श्रद्धामय ये बैन।
अर्जुन! सब विधि पात्र तुम, कहे कृष्ण यह बैन।।

श्री कृष्ण – शत सहत्र रूप मेरे अर्जुन, हैं नाना वर्ण, आकृति वाले।
वे सभी अलौकिक रूप पार्थ, हैं विस्मित कर सकने वाले।। (5)

बारह आदित्यों, वसु आठों, ग्यारह 'रुद्रों' को देखोगे।
दोनो 'अश्विनी कुमारों' को, उनचास 'मरुतगण' देखोगे।।

श्लोक 6 – विज्ञ = विशेष ज्ञाता।

तुम देखोगे उन रूपों को, जो अनदेखे अनजाने हैं।
ऐसे अद्भुत उन दृश्यों को, नहीं किसी विज्ञ ने जाने हैं।। (6)

अब अर्जुन! उस मेरे तन में, तू सकल चराचर विश्व देख।
शंका का सकल निवारण कर, जो इच्छित हो, सब दृश्य देख।।(7)

मेरे इस विश्वरूप को तू, इन नेत्रों देख न पायेगा।
देता हूँ तुझको दिव्य दृष्टि, जिससे तू सब कुछ देखेगा।। (8)

संजय – कह कुन्तिपुत्र से महत् तथ्य, भगवान महायोगेश्वर ने।
अपना दिखलाया विश्वरूप, उस अविनाशी मधुसूदन ने।। (9)

दोहा- विश्वरूप–प्रभु देख कर, सुध–बुध भूले पार्थ।
तत्व ज्ञान उनको हुआ, जीवन हुआ कृतार्थ।।

राजन! हैं अनगिन मुख औ' नेत्र, अद्भुत प्रिय दर्शन है उनका।
तन दिव्य–भूषणों से शोभित, है अतुल रूप ब्रजनन्दन का।। (10)

गल दिव्य माल, तन दिव्य वस्त्र, औ' दिव्य गन्ध का आलेपन।
आश्चर्ययुक्त जो अन्त रहित, ब्रह्माण्ड रूप है वह राजन।। (11)

हों उदित सहस्त्र सूर्य नभ में, युगपत् प्रकाश जो कर सकते।
वे विश्वरूप परमेश्वर के, आलोक सदृश कब हो सकते।। (12)

तब कुन्तीसुत ने हे राजन!, उस विश्वरूप में जग देखा।
जो फैला तीनों लोकों में, एकस्थ रूप हरि में देखा।। (13)

है चकित देख जिसको अर्जुन, अतिशय प्रफुल्ल रोमांचित है।
पहले साष्टांग प्रणाम किया, अब नतमस्तक विनयावत है।। (14)

अर्जुन – **दोहा-** निरख रूप प्रभु! आपका, हर्ष न हृदय समाय।
देख हुई अनुभूति जो, क्योंकर कही न जाय।।

श्लोक 12 – युगपत = एक साथ, इकट्ठे।
श्लोक 13 – एकस्थ = एक स्थान या व्यक्ति में स्थित।

हे देव! आपमें देख रहा, मैं सकल चराचर जीवों को।
औ' स्वर्ग, नरक के विविध दृश्य, देवों को औ' अवधूतों को।।

हे देव! आपके तन में ही, देखूं देवों औ' भूतों को।
कमलासन पर बैठे ब्रह्मा, औ' महादेव, ऋषि, सर्पों को!! (15)

मैं देख रहा हे विश्वेश्वर!, बहु उदर, नेत्र, मुख आपके हैं।
अज्ञात अन्त औ' आदि, मध्य, अज्ञेय सभी गुण आपके हैं।। (16)

है गदा, चक्र औ' मुकुट युक्त, सब ओर प्रकाशित तेज प्रभो।
प्रज्वलित अग्नि आदित्य सदृश, अप्रमेय गहन है रूप प्रभो।। (17)

मात्र आप ही अक्षर हैं, आश्रय रक्षक हैं इस जग के।
ज्ञातव्य आप हैं परम ब्रह्म, अविनाशी स्वामी हैं जग के।। (18)

तुम, आदि अन्त औ' मध्य रहित, सामर्थ्य तुम्हारी है अनन्त।
प्रभु अनगिन हाथों वाले हो, इस महिमा का है नहीं अन्त।।

हैं चन्द्र सूर्य से दीप्त नेत्र, प्रज्वलित अग्नि सा मुख केशव।
इस अतुल तेज से ताप्यमान, होता देखूँ यह जग केशव।। (19)

यह स्वर्ग--धरा के बीच गगन, हर दिशा आपसे आपूरित।
इस अद्भुत उग्र रूप से हैं, तीनो ही लोक व्यथित कम्पित।।(20)

संजय – **दोहा**- करने शंका निर्मूल तब, केशव ने हे भूप।
अर्जुन को दिखला दिया, अपना रूप अनूप।।

अर्जुन – मैं देख रहा हूँ देव–वृन्द, प्रवेश आप में ही करते।
हैं हाथ जोड़ भयभीत खड़े, ये नाम आपका ही रटते।।

समुदाय सिद्ध, महर्षियों के, कल्याण हेतु यश गाते हैं।
करते स्तुति स्तोत्रों से, मंगलमय गान सुनाते हैं।। (21)

श्लोक 15 – भूत = प्राणी
श्लोक 21 – स्तोत्र = स्तुति की कविताएं।

वसु रुद्र और आदित्य सभी, जो विश्वेदेव साध्यगण हैं।
मारुत औ' पितृ, गन्दर्भ यक्ष, जितने भी असुर सिद्धगण हैं।।

दोहा- विस्मित से होकर सभी, देखें अनुपम रूप।
सबका आकर्षण बना, अतिशय भव्य स्वरूप।। (22)

अनगिनत नेत्र औ' भुजा, चरण, बहु हाथ, पैर, जंघा वाले।
बहु जोड़ो से जो युक्त रूप, सबको व्याकुल करने वाले।। (23)

बहुवर्ण युक्त विस्तारित मुख, जो दीप्तिमान विस्तृत नभ से।
भयभीत हुआ, है शांति नहीं, देदीप्य नेत्र के आतप से।।

दोहा- अर्न्तमन आकुल बहुत, देख भयावह रूप।
हृदय शान्ति विरहित हुई, दुखद हुआ यह रूप।। (24)

विकराल देह, कालाग्नि मुखों को देख हुआ जाता विचलित।
प्रभु दरश आपका करके भी, सुख–चैन नहीं मिलता किंचित।।(25)

दुर्योधन और भाइयों को, महिपाल और रणधीरों को।
मैं देख रहा जाते मुख में, कौरव दल के सब वीरों को।।

भीष्म, द्रोण और कर्ण आदि, दल सहित महा रणधीरों को।
अपनी सेना के धृष्टद्युम्न, औ' प्रमुख प्रमुख रणवीरों को।। (26)

खुद खिंचे जा रहे हैं क्रम से, विकराल मुखों की दाढ़ो में।
मैं देख रहा हूँ कुछ केशव, चिपके विचूर्ण हो दांतों में।। (27)

ज्यों जल–प्रवाह सरिताओं का, सागर में लय होने जाता।
समुदाय शूरवीरों का भी, मुख में प्रवेश करता जाता।। (28)

जैसे पतंग अति वेग सहित, प्रज्वलित अग्नि पर जाता है।
वैसे ही अग्निमुख में केशव!, प्राणी प्रवेश कर जाता है।। (29)

श्लोक 24 – विरहित = छोड़ कर दूर हो जाना।
श्लोक 25 – किंचित = तनिक।

सब लोकों को देदीप्यमान, करने वाले सब मुख, भगवन।
आस्वादन करते निगल रहे, हैं तपा रहे सब जग, भगवन।। (30)

दोहा- अद्‌भुत लीला देख कर, मन प्रभु! अति बेचैन।
आप भयंकर भेष में, बतलायें हैं कौन।।

सृष्टि–व्याप्त प्रभु! आपको, समझूँ भली प्रकार।
विस्तृत बतलाऐं मुझे, करें नमन स्वीकार।। (31)

श्री कृष्ण – जो रूप देखते महाकाल, वह मेरा ही तो है, अर्जुन।
करने संहार दुष्ट–जन का, है प्रवत्त रूप यही अर्जुन।।

भीष्म, द्रोण औ' कर्ण आदि के, पापों का घट भर चुका, पार्थ।
तुम नहीं लड़ोगे तक भी वे, जीवित न रहेंगे, समझ, पार्थ। (32)

हे अर्जुन! जितने शूरवीर, पहले ही मार चुका उनको।
अब तो बस बन करके निमित्त, निश्चित ही यश पाना तुमको।।

तुम उठो पार्थ! कर शत्रु क्षरण, निष्कंटक राज्य सँभालो तुम।
पा विजय देव दुर्लभ जो है, निर्बाध सुखों को भोगो तुम।। (33)

जयद्रथ, द्रोण औ' भीष्म, कर्ण, अर्जुन! तू जिनसे शंकित है।
वे शूरवीर, वे महारथी, संशय मत कर, निर्जीवित हैं।

भय त्याग पार्थ! तज संशय भी, तू मार बैरियों को रण में।
कौन्तेय! विजय तेरी निश्चित, अपना धनु वाण उठा रण में।।(34)

संजय – **दोहा-** सुन कर केशव के वचन, अर्जुन रहा न आर्त।
भाव विह्वल, गदगद गिरा, रुंधे हुए हैं गात।। (35)

अर्जुन – हर्षित हैं सकल जगत–प्राणी, गुणगान आपका करते हैं।
भयभीत असुर सब भाग रहे, सत्पुरुष आपको भजते हैं।। (36)

श्लोक 35 – आर्त = दुखी।

प्रभु! आप सनातन है अनन्त, हैं सकल चराचर के स्वामी।
अपने भक्तों के परमधाम, हैं परमब्रह्म अर्न्तयामी।। (37)

तुम पुरुष सनातन, आदि देव, इस निखिल जगत के आश्रय हो।
तुम परमधाम, ज्ञातव्य सदा, तुम हो अनन्त जग–व्यापक हो।।(38)

यमराज वायु औ' अग्नि तुम्हीं, औ' वरुण चन्द्रमा भी तुम हो।
स्वीकार करो शत–शत प्रणाम, ब्रह्मा के पिता ईश! तुम हो।।(39)

हे सर्व रूप! संसार व्याप्त, सर्वात्म! तुम्हें मेरा प्रणाम।
तुम हो अनन्त सामर्थ्यवान, चहुँ दिशि से मेरा लो प्रणाम।। (40)

अनभिज्ञ आपकी महिमा से, प्रभु! क्या क्या मैने नहीं कहा।
भ्रमवश प्रेम सहित मैने, हे यादव, कृष्णा, सखा कहा।। (41)

ऐसे ही जाने अनजाने, खाते–पीते, चलते–फिरते ।
खेलों में या आगे–पीछे, सोते–जगते, भोजन करते।।

जाने ऐसे ही कितने प्रभु!, अपराध हुए भारी मुझसे।
हे अच्युत! मुझको क्षमा करो, मैं अज्ञ रहा हूँ तथ्यों से।। (42)

हैं सकल जगत के पिता आप, हैं पूजनीय गुरु से बढ़ कर।
हैं तीनो लोकों में अनुपम, तुमसा है मुझे कौन हितकर।। (43)

दोहा- प्रभु! चरणों में आपके, दास नवाता शीश।
क्षमा करें अपराध प्रभु! जगत पिता जगदीश।।

प्रिय पत्नी को पति सहन करे, औ' पिता पुत्र को क्षमा करे।
हे क्षमाशील दो क्षमादान, ज्यों मित्र मित्र को क्षमा करे।। (44)

भगवन! अनदेखा विश्वरूप, हर्षित तो निश्चित करता है।
पर देख भयानकता इसकी, मेरा मन अतिशय डरता है।।

श्लोक 42 – अच्युत = जिसका कभी क्षय न हो।
अज्ञ = ज्ञान रहित।

इसलिये देव! अब हों प्रसन्न, अब और न मुझको भरमायें।
शुचि दर्शन का हूँ अभिलाषी, बस वही रूप अब दिखलायें।। (45)

इस विश्वरूप को त्याग प्रभो! अब विष्णु रूप में आ जाओ।
धर शीश मुकुट, ले गदा चक्र, अब रूप चतुर्भुज दिखलाओ।।(46)

श्री कृष्ण – मैने असीम यह विश्वरूप, बस प्रथम तुझी को दिखलाया।
तेजोमय है यह आदि रूप, पहले न किसी को दर्शाया।। (47)

वेदों का अध्ययन, यज्ञ–क्रिया, तप, दान सरीखे जो साधन।
इनके कर लेने भर से तो, उपलब्ध नहीं दर्शन पावन।।

अन्य न है ऐसा कोई, यह रूप दृष्टिगत हो जिसको।
मैं विश्वरूप वाला अर्जुन! तुम सा सुपात्र मानूँ किसको।। (48)

मेरे विकराल रूप से है, उचित नहीं व्याकुल होना।
हो मूढ़भाव भय रहित सखे! है नहीं उचित दृढ़ता खोना।।

तुम प्रीतियुक्त हो निश्चय ही, कर लो अभीष्ट का तुम दर्शन।
यह रहा चर्तुभुज रूप पार्थ! कर लो सुपात्र तुम चित्त मगन।।(49)

संजय – निज सौम्य मूर्ति को धारण कर, भय रहित किया नृप! अर्जुन को।
औ' धैर्य बंधाया केशव ने, प्रस्तुत कर रूप चतुर्भुज को।। (50)

अर्जुन-दोहा- मनुज रूप में देख कर, अतिशय हुआ प्रसन्न।
स्थिर मन मेरा हुआ, रूप देख अविपन्न।। (51)

श्री कृष्ण – देवों को भी अति दुर्लभ है, वे दर्शन की इच्छा रखते।
जो रूप पुनः तुम देख रहे, वह अन्य कहां हैं पा सकते।। (52)

मेरे जिस रूप चतुर्भुज को, तुमने है देखा हे अर्जुन ।
जप–तप औ' दान–यज्ञ से वह, हो सकता प्राप्त नहीं अर्जुन।। (53)

श्लोक 51 – अविपन्न = विशुद्ध।

जब होय अनन्य भक्ति मेरी, तब दर्शन मेरा संभव है।
प्रत्यक्ष दरश औ' तत्व, ज्ञान, सब एक्य भाव से संभव है।। (54)

तप, यज्ञ, दान सत्कर्म सभी, अर्पण करता है जो मुझको।
जो परम शक्ति–गति जान मुझे, भजता रहता है नित मुझको।।

आसक्ति रहित हो मोह रहित, है कीर्तिगान करता मेरा।
हो वैर रहित, निष्काम पुरुष, सामीप्य प्राप्त करता मेरा।। (श्लोक–55)

❖

आदर्शों को जीवन में उतारने में अनगिनत कमजोरियां आड़े आती हैं। जैसे लोभ, मोह, की कमजोरी, ईष्ट-मित्रों व अपने वातावण की कमजोरी आदि आदि। इन सारी कमजोरियों को मछली की भांति जो मनुष्य चीरता हुआ आगे बढ़ सकता है। वास्तव में वही मनुष्य आध्यात्म की दृष्टि से शक्तिमान कहलाने का अधिकारी है।

ॐ

अध्याय १२
(भक्ति योग)

अर्जुन – कुछ हैं अनन्य प्रेमी औ' भक्त, जो सगुण रूप को भजते हैं।
तुम निराकार निर्गुण भी हो, कुछ इसी भाव में रमते हैं।।

दोनों भक्तों में कौन श्रेष्ठ, केशव! मुझको यह बतलाएँ।
है यह रहस्य अतिगूढ़ प्रभो! मन जिज्ञासु है समझाएँ।। (श्लोक–1)

श्री कृष्ण – जो भजन–ध्यान में लगे हुए, करके एकाग्र चित्त मुझमें।
वे ही हैं योगी श्रेष्ठ पार्थ! जो सगुण रूप लखते मुझमें।। (2)

करके वश में इन्द्रियां सभी, अव्यक्त नित्य माने मुझको।
हूँ अचल, अकथ, अविनाशी भी, औ' निराकार माने मुझको।।

सर्वत्र व्याप्त मैं अक्षर हूँ, जो उसी भाव से भजते हैं।
वे एक्य भाव से ध्यान मग्न, तन्मय हो मुझको जपते हैं।। (3)

जो प्राणी मात्र के हित में नित, सर्वदा साधना रत रहते।
ऐसे संन्यासी, योगी भी, मुझको ही प्राप्त हुआ करते।। (4)

अर्जुन – **दोहा-** बतलाया जो आपने, समझा मैं भगवान!
मर्म साधना का मुझे, बतलायें श्रीमान।।

श्री कृष्ण – साधक जो निराकार के हैं, अभिमान देह का यदि उनको।
अति कठिन साधना डगर पार्थ! चलना उस पर दुष्कर उनको।। (5)

मुझमें तत्पर होकर अर्जुन! सम्पूर्ण कर्म अर्पित करते।
मुझ सगुण रूप परमेश्वर का, चिन्तन करते औ' नित भजते।। (6)

जो स्थिर कर चित्त मुझमें, औ' प्रेम भक्ति अनुरक्त रहें।
भव–सागर पार लगाता मैं, वे पुनर्जन्म से मुक्त रहें।। (7)

कर बुद्धि अवस्थित, मुझमें ही, अर्जुन! मुझको ही पाओगे।
है इसमें कुछ सन्देह नहीं, मुझमें ही लय हो जाओगे।। (8)

एकाग्र चित्त में असफल यदि, योगाभ्यास से यत्न करो।
विषयों से चंचल चित्त हटा, एकाग्र हो मुझमें ध्यान धरो।। (9)

असमर्थ अगर उसमें भी हो, मेरे निमित्त ही कर्म करो।
अन्तर्मन शुद्धि से पाओ मुझे, पूजा अर्चन और ध्यान धरो।। (10)

यदि इतना भी कर सको न तुम, कर्मों के फल का त्याग करो।
जीते मन वाला होकर तुम, मेरी शरणागति प्राप्त करो।। (11)

मर्म–अपरिचित रह कर अर्जुन! जो भी अभ्यास किया जाता।
उपलब्ध नहीं होता कुछ भी, हे पार्थ! यत्न निष्फल जाता।।

जो है परोक्ष का ज्ञान पार्थ! उसको तुम श्रेष्ठ ग्राह्य जानो।
उससे भी श्रेष्ठ है ध्यान सुनो, इसके महत्व को पहचानो।।

है सर्वश्रेष्ठ यह बात कि तुम, कर्मो के फल का त्याग करो।
यह त्याग शान्ति का स्रोत पार्थ! इस परम सत्य को ग्रहण करो।। (12)

अर्जुन – **दोहा-** जैसे होते आपको, साधक जन सब प्राप्त।
वे लक्षण वर्णन करें, विनती सुन यदुनाथ।।

श्री कृष्ण – जो द्वेष रहित औ' स्वार्थ रहित, सब का प्रेमी हो जाता है।
हो हेतु रहित औ' दयावान, वह पुरुष श्रेष्ठ बन जाता है।।

श्लोक 7 – अनुरक्त = आसक्त ।

त्यागे ममता औ' अहंकार, जो दया–क्षमा को ग्रहण करे।
सुख–दुख में जो समभाव रहे, इस अभयदान को प्राप्त करे।। (13)

जो आत्मतुष्ट रहते हर दम, मन और इन्द्रियां वश करते।
मन, बुद्धि समर्पित करें मुझे, वे मुझको प्राप्त हुआ करते।। (14)

उद्विग्न न करता है पर को, उद्वेलित स्वंय नहीं होता।
उद्वेग, हर्ष, ईर्ष्या, भय से, हो रहित मुझे प्यारा होता।। (15)

बाहर–भीतर से शुद्ध, दक्ष, जो पुरुष पार्थ! हो जाता है।
आकांक्षा का हो लेश नहीं, अतिशय मुझको वह भाता है।।

यदि पक्षपात से रहित पुरुष, औ' मुक्त दुखो से हो जाता।
अभिमान रहित वह भक्त पार्थ! निश्चय मेरा प्रिय हो जाता।। (16)

जो शोच–द्वेष से मुक्त रहे, जो हर्षित–व्यथित नहीं होता।
कामना रहित, फल त्यागी जो, वह भक्ति युक्त अति प्रिय होता।। (17)

यदि शत्रु मित्र में भेद नहीं, अपमान–मान को सम जाने।
आसक्ति रहित है वह जग में, नित सुख–दुख को जो सम माने।। (18)

कर भेद न निन्दा–स्तुति मे, नित मननशील जो रहता है।
आवास, देह से सदा तुष्ट, वह भक्त मुझे प्रिय होता है।। (19)

जो हैं श्रद्वा से युक्त मनुज, निश्छल निष्कामी होते हैं।
जो करते धर्म–अमिय सेवन, वे भक्त मुझे प्रिय होते हैं।। (श्लोक–20)

❖

श्लोक 15 – पर = दूसरा।
श्लोक 20 – अमिय = अमृत।

ॐ

अध्याय १३
(क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग)

श्री कृष्ण **दोहा-** क्षेत्र कहाती देह है, जाने वह क्षेत्रज्ञ।
दोनों को जो जानता, है ज्ञानी मर्मज्ञ।। (श्लोक–1)

हे अर्जुन! सारे क्षेत्रों में, क्षेत्रज्ञ–रूप मुझको जानो।
सविकास पुरुष औ' प्रकृति तत्व का, मर्म मुझी में है, मानो।।(2)

जो अन्य क्षेत्र जैसा भी है, कारण, विकार सब ज्ञात मुझे।
संक्षिप्त सार मैं कहता हूँ, क्षेत्रज्ञ–भाव भी ज्ञात मुझे।। (3)

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तत्व, ऋषियों द्वारा उद्भासित है।
वेदादि और मन्त्रों में भी, वह विविध रूप से वर्णित है।।

जो ब्रह्म–सूत्र के पद अर्जुन!, उनमें सब तत्व निरूपण है।
है भली भांति सब कुछ संचित, औ' युक्तियुक्त सब वर्णन है।।(4)

क्षिति, जल, पावक औ' गगन, वायु ये पांच तत्व जो हैं अर्जुन।
बुद्धि, प्रकृति, इन्द्रियां दसों, हैं उनमें वर्णित सुन, अर्जुन।।

शब्द, रूप, स्पर्श, गंध, रस, हैं सब इन्द्रिय विषय, अर्जुन।
बतलाता हूँ इनका रहस्य, अब ध्यान लगाकर सुन, अर्जुन।। (5)

सुख–दुखः, इच्छा, चेतना, द्वेष, धृति भी, फिर देह पिण्ड, अर्जुन।
सविकार क्षेत्र में निहित रहें, वर्णन संक्षिप्त करूँ, अर्जुन।। (6)

श्लोक 3 – क्षेत्र = सामान्यतः भूमि, किन्तु यहां 'मानव–शरीर' की ओर भी संकेत है।
क्षेत्रज्ञ = अविकार पुरुष, ब्रह्म।

अर्जुन – **दोहा-** क्षेत्र विकारों से बने, क्षेत्रज्ञों के रूप।
निर्विकार क्षेत्रज्ञ का, कैसा होता रूप।।

श्री कृष्ण – अभिमान रहित औ' दम्भ रहित, रखते जो क्षमा भाव मन में।
गुरु सेवा में जो निरत रहें, स्थिरता हो अर्न्तमन में।।

जो करें अहिंसा का पालन, मन वाणी जिनकी सरल रहे।
मन इन्द्रियों का निग्रह करके, बाहर–भीतर अति शुद्ध रहे।। (7)

हो लोक याकि परलोक पार्थ, आसक्ति भोग में उचित नहीं।
है अहंकार, वर्जित अर्जुन! यह दुर्गुण है, शुचि धर्म नहीं।।

जन्म, मृत्यु औ' जरा पार्थ! रोगादि दुःख का ध्यान करे।
अविरल चिन्तन इनका अर्जुन! निश्चित मानव का पतन करे।।(8)

कौन्तेय! पुत्र, दारा, घर, धन, इसमें आसक्ति नहीं समुचित।
ममता यदि नित्य रहे मन में, सम रह न सके मानव का चित।।

हो मित्र या कि फिर शत्रु सखे, दोनों मे समता भाव रहे।
यह गुण तो प्राप्त नहीं उसको, आसक्त भोग में बना रहे।। (9)

व्यभिचार रहित हो भक्ति नित्य, मुझमें हो एकीभाव, पार्थ।
हो शुद्ध देश–एकान्त वास, आसक्ति भोग की नहीं सार्थ।। (10)

सर्वत्र व्याप्त जिसकी सत्ता, इस परम तत्व का ही दर्शन।
जो सत्य ज्ञान है मान्य पार्थ! अध्यात्म ज्ञान अनुरागी बन।।

इससे विरहित जो स्थिति है, अज्ञान निपट कहलाती है।
अज्ञान जनित दुर्गुणी दृष्टि, भव–सागर बीच डुबाती है।। (11)

अर्जुन – **दोहा**– हे केशव अब दें मुझे, ज्ञेय तत्व का ज्ञान।
जिससे भव बंधन कटें, दूर होय अज्ञान।।

श्लोक 10 – सार्थ = सफल, सिद्ध।
श्लोक 12 – प्रदाता = प्रदान करने वाला।

श्री कृष्ण– कौन्तेय! ज्ञेय जो है मन को, वह परमानन्द प्रदाता है।
वह आदि रहित है परम ब्रह्म, सत्–असत् वही कहलाता है।।(12)

वह सभी ओर कर, पग वाला, सब ओर नेत्र, सिर, मुख वाला।
सबको स्थित कर व्याप्त वही, सब ओर वही सुनने वाला।। (13)

दोहा- क्षेत्र–ज्ञान है श्रेय जो, वही तुम्हें हो प्राप्त।
प्रेयस है अर्जुन! वही, रहे न कुछ अज्ञात।।

इन्द्रिय विषयों का ज्ञान जिसे, वह इन्द्रिय रहित ही रहता है।
आसक्ति रहित औ' गुणातीत, वह सब कुछ धारण करता है।।

निर्गुण हो कर भी हे अर्जुन! वह सभी गुणों का भोग करे।
वह विलग सभी से रह कर भी, सबके पोषण में योग करे।। (14)

है व्याप्त समस्त चराचर में, सब के भीतर–बाहर वह है।
अति सूक्ष्म हुआ अज्ञेय वही, अति दूर–समीप वही तो है।। (15)

है नहीं प्राणियों में विभक्त, है गगन सदृश परिपूर्ण वही।
प्रत्यक्ष विभाजित सा लगता, अविभक्त वही, सम्पूर्ण वही।।

वह विष्णु रूप पोषणकर्ता, वह रुद्र रूप संहारक है।
ब्रह्मा है वही सृजनकर्ता, जगती का अंतिम कारक है।। (16)

वह ब्रह्म सृष्टि की पर ज्योति, माया से अविचल दूर रहे।
वह बोध रूप तत्वज्ञ प्राप्त, अन्तस में स्थित सदा रहे।। (17)

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूप, मैंने तुमको समझाया है।
जो तत्व रूप यह समझ सका, वह भक्त मोक्ष फल पाया है।।(18)

हैं प्रकृति पुरुष जो द्विविध रूप, दोनों अनादि हैं जान, पार्थ।
ये गुण–विकार जितने भी हैं, माया से जन्मे जान पार्थ।। (19)

श्लोक 14 – श्रेय = श्रेष्ठ। प्रेयस = प्रियतम।
श्लोक 17 – अन्तस = हृदय। तत्वज्ञ = तत्व ज्ञान को रखने वाला।
श्लोक 19 – प्रकृति = त्रिगुणमयी माया। पुरुष = प्राणियों का आत्मिक स्वरूप जीव।

जो कार्य करण है दोनो की, उत्पत्ति प्रकृति से ही होती।
जीवात्मा जो सुख–दुख भोगे, तो हेतु प्रकृति से ही होती।। (20)

हैं प्रकृति–जन्य वस्तुएँ सभी, प्रकृतिस्थ पुरुष भोगे उनको।
यह त्रिगुणमयी माया ही है, त्रियोनि में जो जन्में उनको।। (21)

यह देह पुरुष में है स्थित, फिर भी माया से परे पार्थ।
उपद्रष्टा है, यह भर्ता है, अनुमन्ता भी है सुनो पार्थ।।

यह जीव–रूप भोक्ता स्वरूप, ब्रह्मादि सभी का स्वामी भी।
है शुद्ध सच्चिदानन्द सखे! परमात्म तत्व, अनुगामी भी। (22)

इस तरह पुरुष औ' सगुण प्रकृति, का ज्ञान जिसे हो जाता है।
तो वर्तमान में जी कर भी, वह परम मोक्ष पा जाता है।। (23)

कितने ही जन हैं सूक्ष्म बुद्धि, से परमतत्व को पा जाते।
हैं अन्य ध्यान के द्वारा जो, अनुरक्त हृदय में हो जाते।।

अनगिन हैं अन्य पुरुष ऐसे, जो ज्ञानयोग अपनाते हैं।
कितने जन कर्मयोग द्वारा, दर्शन उसका पा जाते हैं।। (24)

जो अल्प बुद्धि वाले मनुष्य, तत्वज्ञों से सुनकर, अर्जुन।
पूजा अर्चन में रत रह कर, तर जाते हैं वे भी, अर्जुन।। (25)

जड़, चेतन, जितने भी प्राणी हैं, उत्पन्न जगत में होते हैं।
क्षेत्रज्ञ–क्षेत्र संयोग मात्र से सृजित अवनि पर होते हैं।। (26)

जड़ चेतन में समभाव व्याप्त, परमेश्वर को जो लखता है।
होता यथार्थ का ज्ञान उसे, वह तत्व–दृष्टि को रखता है।। (27)

समभाव रूप से है स्थित, स्वीकार जिसे यह तथ्य, पार्थ।
वह नष्ट नहीं करता खुद को, वह परम गति पाता यथार्थ।। (28)

श्लोक 21 – प्रकृतिस्थ = प्रकृति में स्थित ।
श्लोक 26 – अवनि = पृथ्वी।

सब कर्मों का कर्ता अर्जुन!, जो मात्र प्रकृति को ही माने।
है वही तत्व दर्शी अर्जुन!, जो स्वंय अकर्ता ही जाने।। (29)

हैं अलग–अलग सब भाव पार्थ! सब भूतों के इस जगती में।
स्थित देखे बस मुझमें ही, सब रूप सखे! इस जगती में।।

स्थित औ' विस्तार प्राणियों का, मुझसे ही तो है हे अर्जुन।
जिस क्षण यह तथ्य ग्राह्य होगा, परब्रह्म पुरुष होगा अर्जुन।।(30)

मैं हूँ अनादि औ' गुणातीत, अविनाशी हूँ कौन्तेय सुनो।
मैं परमतत्व देहस्थ रहूँ, निर्लिप्त भाव, यह तथ्य गुनो।। (31)

है सूक्ष्म रूप जैसे अम्बर, वह सर्व व्याप्त पर लिप्त नहीं।
देहस्थ आत्मा भी अर्जुन, कर्मों में है संलिप्त नहीं।। (32)

आलोकित करता सकल विश्व, ज्यों एक मात्र सूरज, अर्जुन।
त्यों सकल क्षेत्र को दीप्त करे, अक्षय यह आत्म तत्व, अर्जुन।। (33)

जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भेद, वह ज्ञान चक्षु से पहचाने।
परब्रह्म प्राप्त हो पुरुष वही, यह भली भांति ज्ञानी जाने।। (श्लोक–34)

❖

मनुष्य केवल दो प्रकार के हैं - देवता और असुर। जिसके हृदय में दैवी सम्पत्ति कार्य करती है वह देवता तथा जिसके आसुरी सम्पत्ति कार्य करती है वह असुर। तीसरी कोई जाति या प्रकार सृष्टि में नहीं है।

ॐ

अध्याय १४
(गुणत्रय विभाग योग)

अर्जुन – **दोहा-** सत, रज, तम गुण का प्रभो, क्या होता आधार।
करें प्रभावित किस तरह, क्या उनका व्यवहार।।

श्री कृष्ण – **दोहा-** जिससे भव बंधन कटें, होय परम गति प्राप्त।
सर्वश्रेष्ठ उस ज्ञान को, पुनः बताऊँ तात।।

सब ज्ञानों मे जो अति उत्तम, वह ज्ञान तुम्हें बतलाता हूँ।
जिससे मुनियों को मुक्ति मिली, वह मर्म तुम्हें समझाता हूँ।। (श्लोक–1)

जो परम ज्ञान से मुझे प्राप्त, वे आवागमन मुक्त होते।
न सृष्टि आदि में जन्में वे, न प्रलय काल में हैं मरते।। (2)

जो मेरी मूल प्रकृति अर्जुन! है गर्भ–स्थल सब जीवों का।
जो बीज रूप चेतन स्वरूप, करता मैं स्थापन उसका।।

जड़ चेतन का जो यह संयोग, इससे उत्पन्न सभी प्राणी।
सम्पूर्ण सृष्टि का यह रहस्य, चेतना युक्त सारे प्राणी।। (3)

यह त्रिगुणी माया ही है, जो गर्भ धारिणी माता है।
मैं पिता बीज–स्थापन को, वह मूल प्रकृति जग–माता है।। (4)

सत्, रज, तम ये तीनो ही गुण, हैं जन्म प्रकृति से ही पाते।
जीवात्मा को ये ही तीनों, इस तन में पार्थ! बांध पाते।। (5)

श्लोक 2 – आदि = आरम्भ।
श्लोक 4 – त्रिगुणी = सत, रज, तम गुण युक्त माया।

कौन्तेय! सुनो इनमें सतगुण, है निर्विकार और दीप्तिमान।
देहस्थ आत्मा को करता, अस्तित्व इसी का कीर्तिमान।।

यह है निर्मल बस इसीलिये, तो आत्म तत्व बँध जाता है।
अभिमान ज्ञान का औ' सुख का, बन्धन–कारक बन जाता है।। (6)

आसक्ति कामना, कर्मफलों से, मुक्त रजोगुण होता है।
वह इन्हीं गुणों से युक्त हुआ, बन्धन का कारण होता है।। (7)

तम गुण होता अज्ञान–रूप, मोहित करता सब जीवों को।
आलस्य नींद भ्रम भ्रान्ति आदि, से बांध रहा सब भूतों को।। (8)

सत गुण सुख में, रज कर्मो में, सब जीवों को आबद्ध करे।
तम गुण तो करे ज्ञान कुंठित, अज्ञान–कूप में भ्रमित करे।। (9)

अर्जुन – **दोहा–** त्रिगुण–कर्म बतला दिये, पुनर्जन्म भी तात।
तीनों में स्थित, पुरुष, किस गति को हों प्राप्त।।

श्री कृष्ण – सत, रज दब जाये तो अर्जुन! तम गुण हावी हो जाता है।
लक्षण तीनों के अलग–अलग, हर गुण परिणाम दिखाता है।।

सतगुण को प्राप्त वही करता, जो करे नियन्त्रित रज, तम को।
जो पुरुष दबा पाये सत, तम, वह प्राप्त करे तब रजगुण को।। (10)

जब अन्तस् और इन्द्रियों की, उत्पन्न चेतना हो तन में।
जागे जब ज्ञानालोक पार्थ! होता सतगुण विकसित मन में।। (11)

रजगुण के बढ़ने पर अर्जुन! हैं लोभ, प्रवृत्ति औ' कर्म बढ़ें।
मन की चंचलता, विषय–भोग, औ' स्वार्थ–बुद्धि–अनुगमन बढ़ें।। (12)

तम गुण से मन में अंधकार, औ' कर्म–विमुखता बढ़ती है।
बढ़ता प्रमादि मोहादि पार्थ! निद्रादि वृत्ति भी बढती है।। (13)

सतगुण की वृद्धि हो जाने पर, जब मरण जीव का होता है।
तब श्रेष्ठ कर्म के कर्ता को, उपलब्ध स्वर्ग ही होता है।। (14)

जब वृद्धि रजोगुण की होती, औं' देह–विसर्जन जब होता।
तब कर्मो में आसक्त हुए, पुरुषो में जन्म सुलभ होता।।

बढ़ने पर किन्तु तमोगुण के, हे पार्थ! प्राण जो तजता है।
वह मूढ़ योनियों में जन्मा, पशु कीट आदि बन पाता है।। (15)

सात्विक कर्मो का फल अर्जुन! वैराग्य, ज्ञान सुख होता है।
राजस कर्मो का दुख होता, तामस, अज्ञान बढ़ाता है।। (16)

वैराग्य, ज्ञान–सुख सात्विक से, है लोभ रजोगुण से होता।
प्रमाद मोह है तामस से, जो बुद्धि ज्ञान को हर लेता।। (17)

सतगुण स्थित हैं सर्वश्रेष्ठ, वे देवलोक को पाते हैं।
हैं रजोगुणी, मध्यम अर्जुन!, वे मनुज–लोक पा जाते हैं।।

पर तमोगुणी तो हे अर्जुन! हैं प्राप्त अधोगति को होते।
अपने दुष्कर्मो के कारण, पशु–कीट आदि योनि पाते।। (18)

आत्मा को बस साक्षी समझे, त्रिगुणों को ही कर्ता माने।
निश्चित ही वह मुझको पावे, उनको ही तत्वज्ञी जाने।। (19)

है जन्म, मरण, दुख जरा आदि, से मुक्त मुझे ही पाता है।
उसके कट जाते भव बन्धन, सुख अमृत पान का पाता है।। (20)

अर्जुन – होकर अतीत तीनों गुण से, क्या लक्षण पुरुष प्राप्त करता।
हो कौन आचरण अनुगामी, वह त्रिगुण विरत किस विधि होता।।(21)

श्री कृष्ण – सतगुण प्रकाश रजगुण प्रवृत्ति, तम जन्य मोह को भी, अर्जुन।
हो प्रवत्त न जाने दोष कभी, कामना रहित निर्वृत्ति, अर्जुन ।। (22)

स्थित जो साक्षी तुल्य पार्थ!, विचलित न गुणों से होता है।
गुण ही गुण से व्यवहार करे, यह तथ्य समझ जो लेता है।। (23)

हो आत्म भाव में स्थित वह, सुख दुख में समदर्शी रहता।
मिट्टी पत्थर औ' कंचन में, समभाव धीर वह है रखता।।

हो प्रिय या कि फिर अप्रिय हो, रहता न भेद उसके मन में।
निन्दा या स्तुति हो उसकी, विचलित न कभी अन्तर्मन में।। (24)

सम समझे मित्र–शत्रुओं को, अपमान–मान में सम रहता।
अभिमान नहीं कर्त्तापन का, है गुणातीत वह जन होता।। (25)

अव्यभिचारी जो पुरुष पार्थ! हो भक्ति निरत मुझको भजता।
वह त्रिगुण विरत हो कर अर्जुन! सच्चिदानन्द में लय होता।।(26)

परब्रह्म और अविनाशी मैं, अमृत औ' नित्य धर्म मैं ही।
अनवरत एक रस रह कर मैं, आनंद सघन आश्रय मैं ही।।(श्लोक–27)

❖

'धर्म' का अर्थ 'धारण करना' है। मनु ने मनुस्मृति में धैर्य, क्षमा, मन पर नियंत्रण, चोरी, त्याग, पवित्रता, इन्द्रिय-संयम, सद्‌बुद्धि, विद्या प्राप्ति, सत्य और क्रोध न करना - ये धर्म के दस लक्षण बताए हैं। इन्हें जीवन में अपनाना ही धार्मिक होना है। जितने अंशों में हम धर्म के लक्षणों को आत्म-सात करते जायेंगे, उतने अंशों में हम धार्मिक बनते जायेंगे। वस्तुतः सदाचार ही धर्म है।

श्लोक 26 – अव्यभिचारी = व्यभिचार न करने वाला।
श्लोक 27 – अनवरत = निरन्तर।

ॐ

अध्याय १५
(पुरुषोत्तम योग)

श्री कृष्ण — **दोहा-** अविनाशी परब्रह्म मैं, अमृत का आगार।
धर्म–भाव का स्रोत हूँ, अखिल जगत–आधार।।

है शीर्ष पुरुष परमेश्वर जो, वह विश्व–वृक्ष का मूल पार्थ।
नीचे ब्रह्मा रूपी शाखा, पत्ते हैं इसके वेद, पार्थ।।

परमेश्वर उत्पत्ति कारक, ब्रह्मा विस्तार करे जग का।
ये दोनो ही अविनाशी हैं, अविनाशी रूप हुआ जग का।।

संसार रूप यह वृक्ष सखे! जो मूल सहित पहचानेगा।
वह पुरुष तत्व का ज्ञाता है, वह वेद मर्म भी जानेगा।। (श्लोक–1)

हैं त्रिगुण रूप जल के द्वारा, शाखायें इसकी बढ़ी हुई।
ये विषय भोग कोंपल वाली, हैं विस्तारित सब ओर हुई।।

अभिमान, वासना रूप जड़ें, कर्मानुसार हैं बांध रहीं।
देव, मनुज औ' त्रियक योनि में, शाखाएँ सब फैल रहीं।। (2)

जैसा वर्णित संसार–वृक्ष, इस लोक में प्राप्त नहीं होता।
इसका न आदि औ' अन्त पार्थ, इसका स्वरूप मिथ्या लगता।।

इस लिये उचित है, हे अर्जुन! यह वैराग्य–शस्त्र से कट जाये।
तब परमब्रह्म परमेश्वर को, हो एकनिष्ठ खोजा जाये।।

श्लोक 1 – आगार = भण्डार।
श्लोक 2 – त्रियक–योनि = पशु, पक्षी, कीट आदि जीवों की योनि।

उस परमब्रह्म को प्राप्त पुरुष, जगती में पुनः नहीं आते।
दृढ़ निश्चय कर अपने मन में, परमेश्वर–शरण पहुँच जाते।।(3,4)

जो मान मोह अज्ञान रहित, सुखदुख में एक समान रहें।
आसक्ति–रहित हो द्वन्द–मुक्त, हो सद्ज्ञानी निष्काम रहें।।

स्वच्छन्द भाव होकर अर्जुन! मेरे स्वरूप में लीन रहें।
हों प्राप्त परमपद निश्चय ही, नित भक्ति भाव तल्लीन रहें।। (5)

हैं स्वंय परम पद आलोकित, पर अग्नि, चन्द्र, आदित्य नहीं।
पा मेरा परमधाम अर्जुन! फिर मर्त्यलोक में वास नहीं।। (6)

नर देह विराजित आत्म तत्व, मेरा ही अंश सनातन है।
है वही त्रिगुण–स्थित अर्जुन!, इन्द्रिय–मन का आकर्षण है।।(7)

गंध–स्थल से ज्यों पवन पार्थ! है गंध उड़ा कर ले जाता।
त्यों त्याग आत्मा एक देह, मन सहित इन्द्रियां ले जाता।।

कर ग्रहण उन्हें हे पार्थ! सुनो, जो देह प्राप्त वह करता है।
मन और इन्द्रियों सहित पार्थ! उस देह–वास वह करता है।।(8)

जीवात्म कान औ' आँख त्वचा, नाक जीभ मन से अर्जुन।
करता विषयों का सेवन है, लेकर आश्रय इनका अर्जुन।। (9)

नश्वर इस तन को छोड़ पार्थ, अथवा शरीर–स्थित होकर।
अज्ञानी जान नहीं पाता, वह त्रिगुणों के वश में हो कर।।

वह तथ्य समझ पाता कब है, जो निपट पार्थ! अज्ञानी है।
बस वही तत्व का ज्ञाता है, जो तत्ववेत्ता ज्ञानी है।। (10)

हृदयस्थ आत्मा को अर्जुन! है योगी तत्व सहित जाने।
है शुद्ध नहीं अन्तस् जिसका, वह अज्ञानी कब पहचाने।। (11)

श्लोक 10 – तत्ववेत्ता = तत्व को जानने वाला।

जो तेज सूर्य मे स्थित है, सब जग आलोकित करता है।
जो चन्द्र अनल में तेज रूप, भी मेरा मुझ में रहता है।। (12)

होकर प्रविष्ट मैं पृथ्वी में, सब जीवों को धारण करता।
अमृतमय सोम रूप होकर, औषधि धर्म पालन करता।। (13)

मैं प्राणि उदर में जठरानल, बन कर स्थित हूँ हे अर्जुन!
मैं प्राणापान से युक्त हुआ, सब अन्न पचाता हूँ, अर्जुन।। (14)

मैं सभी प्राणियों के मन में, अर्न्तयामी बन स्थित हूँ।
मैं बुद्धिजन्य संशय हर्ता, ज्ञातव्य वेद में स्थित हूँ।। (15)

तन तो सम्पूर्ण प्राणियों के, हे अर्जुन! नाशवान होते।
है अजर अमर जीवात्म पार्थ! जो समझें वे ज्ञानी होते।। (16)

है उत्तम कोई अन्य पुरुष, तीनों लोकों का स्वामी है।
सर्वज्ञ वही धारक–पोषक, अविनाशी अन्तर्यामी है।। (17)

क्षर से अतीत हूँ मैं अर्जुन! जीवात्म तत्व से उत्त्म हूँ।
इन लोक–वेद दोनो में ही, कहलाता मैं पुरुषोत्तम हूँ।। (18)

जो तत्व ज्ञान से युक्त हुआ, पुरुषोत्तम मुझे समझता है।
सर्वज्ञ पुरुष वह है अर्जुन! मुझ परमेश्वर को भजता है।। (19)

अर्जुन! तुमको जो बतलाया, यह गुह्य ज्ञान कहलाता है।
जो तत्व सहित समझे ज्ञानी, कृतकृत्य वही हो जाता है।। (श्लोक–20)

❖

श्लोक 12 – अनल = अग्नि। श्लोक 13 – औषधि = वनस्पति।
श्लोक 15 – ज्ञातव्य = जानने योग्य।
श्लोक 20 – कृतकृत्य = सफल , कृतार्थ।

ॐ

अध्याय १६
(दैवासुर सम्पद् विभाग योग)

श्री कृष्ण – **दोहा-** अर्जुन! बतलाता तुम्हें, पुरुष वृत्ति के रूप।
दैवी सम्पद् है पृथक, पृथक आसुरी रूप।।

निर्भयता, पावनता मन की, तत्परता तत्व ज्ञान की हो।
इन्द्रिय दमन भगवत् पूजा, सद्वृत्ति श्रेष्ठ कर्मो की हो।।

भगवान नाम गुण कीर्ति–गान, रुचि हो वेदों के वाचन में।
हो कष्ट सहन की शक्ति पार्थ! निज धर्म–कर्म के पालन में।। (श्लोक–1)

अन्तःकरण हो शान्त सदा, चित चंचलता का भान न हो।
निज धर्म–कर्म के पालन में, कर्त्तापन का अभिमान न हो।।

हो दयाभाव से पूर्ण हृदय, आसक्ति न विषयों में, अर्जुन।
लज्जा हो, कोमलता भी हो, है व्यर्थ–यत्न अनुचित, अर्जुन।। (2)

हो तेज, क्षमा, औ' धैर्य पार्थ! मन, बुद्धि, देह की निर्मलता।
अभिमान रहित हो चित्त सदा, हो लक्ष्य हृदय की उज्वलता।।

हो शत्रु भाव से रहित हृदय, पूज्यता भाव भी त्याज्य पार्थ।
दैवी सम्पद् को प्राप्त हुए, जन के लक्षण ये सुनो, पार्थ।। (3)

पाखण्ड, दर्प, अभिमान क्रोध, कटु वाणी औ' अज्ञान, पार्थ!
आसुरी सम्पदा युक्त पुरुष, के लक्षण हैं ये सभी पार्थ।। (4)

श्लोक 4 – दर्प = घमण्ड।

दैवी सम्पद् है मुक्ति हेतु, आसुरी संपदा बन्धन है।
अविलम्ब त्याग तू शोक सखे! यह दैवी सम्पद् अनुपम है।।

दैवी सम्पद कर प्राप्त पार्थ! बन्धन में रहना उचित नहीं।
कर प्राप्त मुक्ति का मार्ग सखे! अज्ञानी को जो प्राप्त नहीं।। (5)

कुल दो श्रेणी के ही मानव, अर्जुन! इस जग में होते हैं।
पहले होते दैवी स्वाभाव, औ' अन्य आसुरी होते हैं।।

विस्तार रूप में बतलाये, मैने दैवी गुण, हे अर्जुन!
आसुरी–वृत्ति के अवगुण भी, बतलाता हूँ तुमको अर्जुन।। (6)

निवृत्ति–प्रवृत्ति के अन्तर से, अनभिज्ञ सदा ही रहते हैं।
हैं शुद्ध नहीं बाहर–भीतर, कब श्रेष्ठ आचरण करते हैं।।

है नहीं सत्य भाषी ये जन, कर्तव्य–कार्य का ज्ञान नहीं।
क्या अकर्तव्य है इसका भी, रहता उनको कुछ भान नहीं।। (7)

आसुरी प्रकृति वाले ये जन, कहते हैं आश्रय रहित जगत।
जग मिथ्या है उनके मत में, समझें ईश्वर से रहित जगत।।

नर–नारी के संयोग मात्र से, जग को उत्पन्न हुआ मानें।
बस भोग–भोगना लक्ष्य समझ, किंचित कुछ और नहीं जानें।। (8)

अर्जुन – **दोहा-** प्रकृति आसुरी के पुरुष, कैसे करते कर्म।
समझायें मुझको प्रभो, इसका जो भी मर्म।।

श्री कृष्ण वे मन्द बुद्धि हैं क्रूर पुरुष, अपकार सभी का हैं करते।
मिथ्या है ज्ञान कुपुरुषों का, जग–नाश हेतु पैदा होते।। (9)

ये दंभ, मान, मद युक्त पुरुष, बस मात्र कामनाधारी हैं।
है तृप्ति नहीं मिलती उनको, सत्कर्म रहित व्यभिचारी हैं।।

श्लोक 5 – हेतु = कारण, उद्देश्य।

अज्ञान मार्ग अनुगामी हैं, दुर्वृत्तियुक्त ही रहते हैं।
शुचिता है नहीं आचरण में, संलग्न भोग में रहते हैं।। (10)

है भोग मात्र में सुख उनको, दुश्चिन्ताओं से मुक्त नहीं।
भोगों में तत्पर रहते हैं, अन्यथा उन्हें आनन्द नहीं।। (11)

आशा–बन्धन में बंधे हुए, औ' काम क्रोध से ग्रस्त रहें।
अन्यायी बन संग्रह करते, फिर भी जीवन भर त्रस्त रहें।। (12)

है सिद्ध मनोरथ जो पाया, आगे भी इच्छित पाऊंगा ।
हूँ स्वामी जितने धन का मैं, उससे भी अधिक जुटाऊंगा।। (13)

बलवान शत्रु जब मार लिया, अब निर्बल भी मैं मारूँगा।
यद्यपि मैं हूँ बलवान, सुखी, फिर भी सुख और कमाऊँगा।। (14)

धनवान बड़ा, परिवार बड़ा, है कहाँ दूसरा मुझ जैसा।
मैं यज्ञ–दान से सुख पाऊँ, बस अज्ञानी कहते ऐसा।। (15)

बहु विधि है चित्त भ्रमित इनका, ये मोह जाल में फँसे हुए।
वे घोर नरक में जा गिरते, जो विषय–भोग में धंसे हुए।। (16)

अर्जुन – **दोहा-** पुरुष आसुरी वृत्ति का, पतन मार्ग पर जाय।।
कौन मार्ग से हे प्रभो, अधोगति वह पाय।।

श्री कृष्ण – अभिमान, दंभ, धन के मद में, रहने वाले ढोंगी, अर्जुन!
करें अविधि से नाम मात्र, का यज्ञ और पूजन, अर्जुन।। (17)

अहंकार, बल औ' घमण्ड, से युक्त पुरुष वे होते हैं।
क्रोधादि परायण होकर वे, परनिन्दा रत ही रहते हैं।।

नित निन्दा करते जो दुर्जन, स्वेच्छाचारी जो रहते हैं।
सब की काया मे स्थित मैं, मेरे भी द्वेषी रहते हैं।। (18)

श्लोक 12 – त्रस्त = दुखी।
श्लोक 17 – अधोगति = निम्न, निकृष्ट गति।

वे द्वेषी, पापाचारी हैं, अत्यधिक नराधम हैं अर्जुन!
इसलिये उन्हें मैं बार–बार, आसुरी योनि देता, अर्जुन।। (19)

ऐसे अविनाशी तमोगुणी, आसुरी योनि पाते रहते।
मेरे को प्राप्त नहीं होते, बस प्राप्त अधोगति को होते।। (20)

ये काम, क्रोध औ' लोभ पार्थ! हैं द्वार नरक के तीनों ही।
आत्मा पाती है अधोगति, इसलिये त्याज्य ये तीनों ही।। (21)

इन तीनों से जो मुक्त हुआ, कल्याण–मार्ग अपनाता है।
प्रर–मंगलकामी पुरुष पार्थ! वह परम ब्रह्म को पाता है।। (22)

जो त्याग शास्त्र–विधि को अर्जुन! आचरण स्वेच्छा से करता।
सुख सिद्धि और उत्कृष्ट दशा, वह अर्जुन! प्राप्त नहीं करता।। (23)

कर्तव्य और जो अकर्त्तव्य, यह शास्त्र प्रमाणित तथ्य पार्थ!
जो कर्म शास्त्र–विधि से निश्चित, प्रस्तुत हो उनके लिये पार्थ।। (श्लोक–24)

विकारयुक्त अंतःकरण वाले व्यक्ति में भी यदि उत्कट अभिलाषा प्रभु मिलन की है, तो उसे परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए अंतःकरण शुद्धि की चिंता न करके परमात्मा प्राप्ति की इच्छा को बढ़ाने पर अवश्य लाभ होगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए।

श्लोक 21 – तजात्य = त्याग देने योग्य।
श्लोक 23 – उत्कृष्ट दशा = परम गति।

ॐ

अध्याय १७

(श्रद्धात्रय विभाग योग)

अर्जुन – हे कृष्ण! त्याग कर शास्त्र नियम, जो श्रद्धा युक्त करें पूजन।
सात्विकी, राजसी या तामस, क्या स्थिति है उनकी, भगवन्।। (श्लोक–1)

श्री. कृष्ण – जो शास्त्र नियत है संस्कार, यदि उनको ग्रहण नहीं करते।
पर अनायास जन्मी श्रद्धा, से युक्त मनः पूजन करते।।

तीनों गुण वाली स्थिति यह, कैसे और क्यों बतलाता हूँ।
अब ध्यान लगा कर सुन अर्जुन! यह मर्म तुझे समझाता हूँ।। (2)

होता मन के अनुरूप सभी, श्रद्धा का भाव सुनो अर्जुन!
जिसकी जैसी भी श्रद्धा है, वैसा ही स्वंय रहे अर्जुन।। (3)

कौन्तेय! सात्विकी पुरुष सदा, देवों का पूजन करते हैं।
राजस हैं यक्ष, असुरगण का, तामस प्रेतों का करते हैं।। (4)

जो पुरुष शास्त्र विधि से विरहित, हो घोर तपस्या करते हैं।
वे दम्भी और अहंकारी, कामी, अभिमानी होते हैं।। (5)

स्थित तन में जो पंच तत्व, अन्तस् में मैं अर्न्तयामी।
कृश करते उन को मुझ को भी, आसुरी वृत्ति के अज्ञानी।। (6)

आहार प्रकृति अनुरूप पार्थ! सब त्रिविध रूप में होते हैं।
हैं त्रिविध यज्ञ तप और दान, न्यारे–न्यारे सब होते हैं।। (7)

श्लोक 2 – अनायास = स्वाभाविक रूप से । मनः = मन वाले।
श्लोक 7 – त्रिविध = तीन प्रकार।
श्लोक 8 – स्निग्ध = चिकने।

सात्विक के मन को प्रिय होते, बल, बुद्धि स्वास्थ्य देने वाले।
स्निग्ध और रसयुक्त सभी, स्थिर, सुख–प्रेम वृद्धि वाले।। (8)

कड़वे, खट्टे, ठण्डे, तीखे, रूखे, नमकीन, दाह कारक।
अति प्रिय राजस को यह होते, दुख रोग शोक चिन्ताकारक।।(9)

रस रहित अधपके दुर्गन्धित, उच्छिष्ट अपावन जो होते।
तामस गुण वाले पुरुषों को, अतिप्रिय पार्थ! वे सब होते।। (10)

अर्जुन – **दोहा-** त्रिगुणों के प्रभाव सब, खान–पान व्यवहार।।
जान लिये अब प्रभु कहें, तप–यज आदि प्रकार।।

श्री कृष्ण – कर्तव्य समक्ष फल इच्छा बिन, शास्त्रोचित यज्ञ किया जाता।
वह है निस्वार्थ यज्ञ अर्जुन! सात्विक है वही कहा जाता।। (11)

जो दंभ आचरण हेतु पार्थ! या फल की इच्छा से होता।
अभिप्राय अगर यह है अर्जुन! तो यज्ञ राजसी ही होता।। (12)

जो यज्ञ शास्त्र–विधि मन्त्र रहित, श्रद्धा के दान बिना होता।
तो निश्चय ही वह यज्ञ पार्थ! तामस लक्षण वाला होता।। (13)

देवता और ब्राह्मण ज्ञानी, गुरुजन का जिसमें हो पूजन।
ब्रह्मचर्य अहिंसा सहित वही, दैहिक तप कहलाता अर्जुन।। (14)

उद्वेग रहित प्रिय हितकारक, भाषण यथार्थ जिसमें होता।
हो नाम–जाप औ' वेद पठन, वाणी विषयक वह तप होता।। (15)

मन की प्रतीति औ' शान्त भाव, भगवत चिन्तन की वृत्ति पार्थ!
मन का निग्रह, पावन अन्तस्, है मन विषयक तप सुनो, पार्थ।। (16)

श्रद्धा से मन आपूरित हो, निष्कामी योगी का अर्जुन।
मन का, तन का, औ' वाणी का, हैं त्रिविध सात्विक तप अर्जुन।। (17)

श्लोक 10 – उच्छिष्ट = जूठा।
श्लोक 11 – यज = यज्ञ।

सत्कार, मान औ' पूजा हित, पाखण्ड सहित जो तप होता।
है क्षणिक अनिश्चित फल जिसका, जानो वह तप राजस होता।। (18)

हठ से निज तन, मन, वाणी को, है पीड़ित अगर किया जाता।
उद्देश्य अन्य का हो अनिष्ट, वह तप है तामस कहलाता।। (19)

दोहा- अर्जुन बतलाये तुझे, जप, तप के सब रूप।
अब बतलाता हूँ तुम्हें, दान–यज्ञ के रूप।।

दान धर्म–कर्तव्य समझ, यदि देश–काल बिन ध्यान करे।
है दान तभी सात्विक अर्जुन! जब योग्य पात्र का भान रहे।। (20)

फल की जिसमें इच्छा रहती, दुख से जो दान दिया जाता।
है कार्य सिद्धि की इच्छा यदि, राजस वह दान कहा जाता।। (21)

जो दान बिना सत्कार किये, यदि है कुपात्र को ही जाता।
औ' देश–काल की दृष्टि न हो, वह तामस दान कहा जाता।।(22)

हरि तत्सत् त्रिविध शब्द ये, ज्ञापित है परम ब्रह्म उनमें।
सच्चिदानन्द धन परमेश्वर, का भाव निहित इन शब्दों में।।

उस परमेश्वर से रचित सभी, यज्ञादि वेद औ' ब्राह्मण हैं।
बस सृष्टि आदि से ही अर्जुन! ये सृजित रूप अति पावन हैं।।(23)

तप, दान, यज्ञ की क्रियाएँ, वेदज्ञों से हैं ज्ञात, पार्थ।
आरम्भ उच्चारण से, होता है उनका सदा, पार्थ।। (24)

तप दान–यज्ञ की कियाएँ, कल्याण हेतु कीं जाती हैं।
जो कुछ है सब परमेश्वर का, निस्वार्थ भाव की थाती है।। (25)

'सत्' भी यह परम ब्रह्म के ही, अति श्रेष्ठ भाव का ज्ञापन है।
होता प्रयुक्त सत्कर्मों में, यह शब्द अत्यधिक पावन है।। (26)

श्लोक 24 – वेदज्ञ = वेदों के मर्म को जानने वाला।
श्लोक 25 – थाती = संचित धन।

तप, यज्ञ, दान में है स्थित, वह भी है सत्य कहा जाता।
परमार्थ कर्म निश्चय सत् है, यह तथ्य सदा जाना जाता।। (27)

तप, दान, यज्ञ बिन श्रद्धा के, होकर असत्य निंदित होते।
इहलोक और फिर मरण बाद भी, नहीं लाभदायक होते।। (श्लोक–28)

❖

मनुष्य का विश्वास सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक परमात्मा पर होना ही चाहिए। वह परम दयालु है और कभी भी अपने भक्तों को निराश नहीं करता। हमारे दुःख इस लिए भी बढ़ते हैं क्योंकि हम अपनी पात्रता की ओर ध्यान नहीं देते और अपनी लालसाएँ आवश्यकता से अधिक बढ़ा लेते हैं। परमात्मा को हमारी पात्रता का ध्यान है, इसी के अनुरूप वह देता भी है। अपनी पात्रता को बढ़ाये बिना अपनी कामनाओं को बढ़ाना बेमानी है।

अपने विचारों का अवलोकन करें, वे आपके शब्द बनते हैं, अपने शब्दों पर निगरानी रखें, वे आपकी क्रियाये बनती हैं, अपनी क्रियाओं को जांचें, वे आपकी आदतें बनाती हैं, अपनी आदतों को परखें, वे आपका चरित्र बनाती हैं। चरित्रवान व्यक्ति पर ही प्रभु-कृपा बरसती है।

ॐ

अध्याय १८
(मोक्ष सन्यास योग)

अर्जुन – **दोहा-** त्यागों के जो आपने, बतलाये हैं रूप।
समझायें प्रभु शीघ्र ही, इनके सभी स्वरूप।।

हे महाबाहु! हे वासुदेव! मैं अति इच्छुक अर्न्तयामी।
सन्यास त्याग के तत्व मुझे, बतलाओ अलग अलग स्वामी।।(श्लोक–1)

श्री कृष्ण – जो 'काम्य कर्म का त्याग' पार्थ! पंडित "सन्यास" समझते हैं।
कुछ "त्याग कर्म के फल को ही, है "सही त्याग" यह कहते हैं।।(2)

कुछ कर्मो को कह दोषयुक्त, कर्मो को त्याज्य बताते हैं।
कुछ यज्ञ, दान, तप को अर्जुन, प्रेरक सत्कर्म बताते हैं।। (3)

इस त्याग विषय में निश्चित मत, जो मेरा है, तू सुन, अर्जुन।
सात्विक, राजस औ' तामस भी, है इसको कहा गया, अर्जुन।।(4)

ये यज्ञ, दान, तप रूप कर्म, है निस्संदेह कर्तव्य पार्थ।
करते मनीषियों को पवित्र, 'अग्राह्य नहीं है कभी' पार्थ।। (5)

तप, यज्ञ, दान से मित्र पार्थ! कुछ अन्य कर्म भी उत्तम हैं।
आसक्ति और फल–इच्छा का, हो त्याग, कर्म तब उत्तम है।।(6)

अर्जुन – **दोहा-** बतलाये हैं आपने, त्याग कर्म के रूप।
अब समझायें प्रभु! मुझे, इनके मर्म अनूप।।

श्लोक 5 – अग्राहय = ग्रहण न किये जाने योग्य।

श्री कृष्ण – सुन नियत कर्म का त्याग पार्थ!, किंचित भी उचित नहीं होता।
यदि मोह पूर्वक त्याग करें, सर्वथा त्याग तामस होता।। (7)

सब कर्मो को दुख रूप मान, काया कष्टों से त्याग करे।
वह पुरुष त्याग राजस करके, भी फल कदापि न प्राप्त करे।।(8)

शास्त्रों द्वारा जो नियत कर्म, कर्तव्य समझ जन करते हैं।
आसक्ति त्याग फल रहित पुरुष, सात्विकी त्याग ही करते है।।(9)

जो कर्म अमंगलकारी है, जो उनसे द्वेष नहीं करता।
औ' मंगलकारी कर्मो में, किंचित आसक्त नहीं होता।।

वह शुद्ध सतोगुण युक्त पुरुष, संशय संयुक्त नहीं होता।
है ज्ञानवान् परहित कामी, औ' सच्चा त्याग वही करता।। (10)

यह संभव नहीं कि देहधारी, सब कर्मो को त्यागे अर्जुन।
कर्मो के फल का त्यागी जो, त्यागी सच्चा है वह, अर्जुन।। (11)

कामी पुरुषों का कर्म पार्थ! है श्रेष्ठ, बुरा, मिश्रित होता।
औ' त्रिविध कर्म का फल अर्जुन! मरने के बाद प्राप्त होता।।(12)

सारे कर्मो की सिद्धि हेतु, कारण हैं पांच मात्र अर्जुन।
सिद्धान्त सांख्य में वर्णित हैं, अब मुझसे जान उन्हें अर्जुन।। (13)

दोहा– सब कर्मों की सिद्धि के, पांच हैं कारण देव।
अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टायें औ' दैव।। (14)

शास्त्रोक्त या कि विपरीत कर्म, तन–मन–वाणी से होते हैं।
ये पांचों ही कारण उसके, आरंभ उन्हीं से होते हैं।। (15)

ऐसा होने पर भी अर्जुन, जो अपने को कर्त्ता माने।
वह मलिन बुद्धि अज्ञानी है, जो नहीं तथ्य को पहचाने।। (16)

मैं कर्त्ता हूँ, यह भाव नहीं, आता है जिस जन के मन में।
है लिप्त नहीं बुद्धि जिसकी, सारे पदार्थ औ' कर्मो में।।

सब लोकों का हन्ता होकर, वह नष्ट किसी को कब करता।
वस्तुतः मारता नहीं पुरुष, औ' न ही पाप से वह बँधता।। (17)

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, अर्जुन! यह तीनों प्रेरक कर्मो के।
कर्त्ता औ' करण क्रिया तीनों, संग्रह रूप हैं कर्मो के।। (18)

ये ज्ञान, कर्म कर्त्ता अर्जुन! तीनों ही तीन तीन होते।
है सांख्य शास्त्र में वर्णित ये, सुन भेद–रूप कैसे होते।। (19)

अर्जुन – **दोहा-** बतलाये संकेत में, त्रिधा ज्ञान के भेद।
इनके लक्षण भी कहें, जो भी ज्ञेय विभेद।।

श्री कृष्ण – वह ज्ञान कि जिस पर आधारित, रहता समभाव सुनो अर्जुन।
अविभाज्य अमर परमात्व–भाव, जिसमें दृष्टव्य रहे अर्जुन।।

है वही सात्विकी ज्ञान पार्थ! जिससे समदृष्टि प्राप्त होती।
सब भूतों में है व्याप्त ईश, है पुष्ट धारणा यह होती।। (20)

जो ज्ञान सृष्टि के भूतों में, जन को है भेद–दृष्टि देता।
वह ज्ञान राजसी कहलाता, है भाव पृथकता का देता।। (21)

वह ज्ञान कि जिससे पुरुष पार्थ! तन को सर्वस्व समझता है।
वह ज्ञान तुच्छ है, तामस है, औ' अर्थ रहित ही रहता है।। (22)

अभिमान न हो कर्त्तापन का, हो नियत शास्त्र विधि के द्वारा।
वह कर्म सात्विक कहलाता, सम्पन्न सत्पुरुष के द्वारा।।

सत्पुरुष कि जो हो मुक्त सदा, फल की इच्छा से हे, अर्जुन!
हो राग–द्वेष से विमुख रहे, निष्काम कर्म रत हो, अर्जुन।। (23)

श्लोक 18 – करण = जिन साधनों से कर्म किया जाता है।
श्लोक 21 – पृथकता = अलगावे।

हो कर्म अगर अतिशय श्रम से, सायास जिसे करना होता।
यदि अहंकार से युक्त पुरुष, ही बना रहे उसका कर्त्ता।।

वह पुरुष कि जिसमें चाह रहे, अपना अभीष्ट पा जाने की।
वह कर्म राजसी कहलाता, इच्छा है स्वत्व को पाने की।। (24)

परिणाम, हानि, हिंसा, क्षमता, सुविचार न यदि इन पर होता।
कर्त्ता जिसका अज्ञानी हो, वह कर्म तामसी कहलाता।। (25)

आसक्ति रहित औ' धैर्ययुक्त, उत्साह पूर्ण जो होता है।
वचनों में किंचित् अहं न हो, सात्विक वह कर्त्ता होता है।। (26)

आसक्तियुक्त फल का कामी, लोभी परपीड़क जो होता।
जो हर्ष–शोक में लिप्त रहे, हे पार्थ! राजसी वह होता।। (27)

आलसी, अशिक्षित, शोकग्रस्त, दम्भी, पर–हानि लिप्त है जो।
है धूर्त, कर्म प्रति उदासीन, तामस कर्त्ता होता है वो।। (28)

अर्जुन – **दोहा**- भेद बताए आपने, कर्त्ता, ज्ञान औ' कर्म।
और भेद भी ज्ञेय क्या, कहें प्रभो वह मर्म।।

श्री कृष्ण – बुद्धि और धृति के भी अर्जुन! हैं तीन–तीन ही भेद सुनो!
है सभी गुणों पर आधारित, अब ध्यान पूर्वक उन्हें सुनो।। (29)

है ज्ञेय जिसे प्रवृत्ति–निवृत्ति, भय और अभय को जो जाने।
क्या है कर्त्तव्य, क्या अकर्त्तव्य, जो भली भांति यह पहचाने।।

जो बुद्धि तथ्य को पहचाने, हो ज्ञान मुक्ति औ' बन्धन का।
वह बुद्धि सात्विकी है अर्जुन! संज्ञान रखे अन्तर्मन का।। (30)

कर्तव्यों और अकर्त्तव्यों में, अन्तर जो बुद्धि नहीं करती।
क्या धर्म और क्या है, अधर्म, असमर्थ बताने में रहती।।

श्लोक 24 – सायास = चेष्टा पूर्वक। स्वत्व = अधिकार।

जिसके द्वारा हो प्रेरित जन, कर्तव्य विमूढ़ बना रहता।
वह बुद्धि राजसी कहलाती, जन तथ्य–ज्ञान विरहित रहता।।(31)

वह है तमगुण–आवृत बुद्धि, जिससे अधर्म भी धर्म रहे।
सब अर्थों को विपरीत मान, अज्ञान पुष्टि में निरत रहे।। (32)

व्यभिचार रहित धारणा पार्थ! सत गुण आपूरित होती है।
उससे प्रेरित कर ध्यान योग, मति कर्म–तत्परी होती है।।

तब पुरुष प्राण मन इन्द्रियों की, कियाओं को धारण करता।
सात्विकी धारणा वह अर्जुन! मन कियाशील इससे रहता।। (33)

फल की इच्छा आसक्ति युक्त, जिससे मानव हो जाता है।
धारण करता धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–लक्ष्य खो जाता है।।

हे पृथा–पुत्र धारणा वही, है राजस–धृति संज्ञा पाती।
वह मोक्ष रहित ही मनोभाव, को पुष्ट सदा करती जाती।। (34)

जिससे दुर्मति, भय, अहंकार, निद्रा, चिन्ता, दुख को अर्जुन!
धारण करता है सदा मनुज, "धृति–तामस" कहलाती अर्जुन।।(35)

दोहा– बतलाता हूँ भेद अब, सुख के पार्थ! प्रवीण।
चित्त समाहित कर सुनो, वे भी होते तीन।।

पर सेवा, ध्यान, भजन ही के, अभ्यासों में जो युक्त रहे।
मुझमें एकाग्र चित्त प्राणी, वह सदा दुखों से मुक्त रहे।। (36)

आरम्भ काल में सात्विक सुख, हे पार्थ, कष्ट दायक लगता।
जो भजन ध्यान में रमणशील, है अन्त सुखद उसका होता।।(37)

इन्द्रिय विषय के सुख अर्जुन! हैं भोग समय अमृत लगते।
वे विष समान 'राजस सुख' हैं, सब जन्म, मरण कारण बनते।।(38)

श्लोक 31 – विरहित = रहित, शून्य।
श्लोक 32 – निरत = तत्पर।

जो भोग–काल परिणाम–समय, मन को मोहित कर लेते हैं।
निद्रा आलस्य प्रमाद जनक, तामस सुख उनको कहते हैं।। (39)

हैं प्रकृति जन्य ये तीनों गुण, सब भूतों में हैं व्याप्त, पार्थ।
देवता, देव, औ' पृथ्वी में, है प्राणि न इनसे वियुत, पार्थ।। (40)

ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यों, शूद्रों, के कर्म स्वभावज होते हैं।
आधार गुणों का होता है, जिससे विभक्त सब होते हैं।। (41)

निग्रह मन का औ' इन्द्रिय दमन, अन्दर–बाहर की शुद्धि पार्थ।
धर्मार्थ कष्ट की सहन–शक्ति, हो क्षमाभाव सब भांति पार्थ।।

तन–मन से व्यक्त सरलता हो, विश्वास अडिग ईश्वर में हो।
ब्राह्मण के हैं ये सहज कर्म, परमात्म–अनुभवी ज्ञानी हो।। (42)

हो शौर्य, तेज, चातुर्य धैर्य, हो युद्धवीर औ' दानवीर।
स्वामित्व भाव वह नित्य रखे, ऐसा हो क्षत्रिय कर्मवीर।। (43)

कृषि, गौ–पालन औ' क्रय–विक्रय, ये 'वणिक कर्म' स्वभाविक हैं।
सब वर्णो की सेवा करना, ये 'शूद्र कर्म' स्वभावज हैं।। (44)

दोहा- कर्मों को निज वर्ण के, करें जान सत्कर्म।
कर्त्ता को प्रतिफल मिले, यही कर्म का मर्म।।

निज कर्म स्वभावज श्रद्धा से, जो करे सिद्धि वह पाता है।
अब सुनो कर्मविधि वह जिससे, नर भवसागर तर जाता है।।(45)

उत्पत्ति हुई सब भूतों की, जिससे है व्याप्त जगत सारा।
मिलती है परम सिद्धि उनको, पूजे वह ईश कर्म द्वारा।। (46)

गुण–युक्त दूसरे धर्मो से, निज विगुण–धर्म उत्तम होता।
कर्त्ता जो कर्म स्वभावज को, पापों को प्राप्त नहीं होता।। (47)

श्लोक 40 – वियुत = रहित।
श्लोक 41 – स्वभावज = स्वभाव से जन्मे।

स्वभावज कर्म यदि दोष–युक्त, फिर भी वह त्याज्य नहीं होता।
सब कर्म दोष से युक्त पार्थ! ज्यों अग्नि धूम्र आवृत होता।। (48)

आसक्ति कामना–रहित है जो, जीता है जिसने अपना मन।
ऐसा निष्कामी ज्ञान योग, से परम मोक्ष पाता, अर्जुन।। (49)

अर्जुन – **दोहा** – नैष्यकर्म्य की प्राप्ति का, क्रम बतलायें आप।
परम सिद्धि जिससे मिले, साधक को निष्पाप।।

श्री कृष्ण – नैष्यकर्म्य सिद्धि जिससे अर्जुन! साधक है परमब्रह्म पाता।
हो वही श्रेष्ठ अति ज्ञान योग, किस भांति प्राप्त मैं बतलाता।।(50)

निष्कपट और निश्चय 'मति' हो, अति धैर्य और संयम भी हो।
हो विषय–भोग से मुक्त पुरुष, औ' राग–द्वेष का त्यागी हो।।(51)

एकान्त वास, अल्पाहारी, तन, मन, वाणी जिसके वश हो।
हो ध्यान–योग ही शीर्ष–कर्म, भोगों के प्रति वैरागी हो।। (52)

है काम, क्रोध, बल, अहंकार, आसक्ति, कामना, दर्प–रहित।
वह परम धाम का पात्र, पार्थ! जो है काया से मोह रहित।। (53)

जो परमब्रह्म को प्राप्त पुरुष, वे किंचित शोक नहीं करते।
हर प्राणी में अपने समान, सुख–दुख समभाव रखा करते।।

ऐसे संन्यासी, ज्ञाननिष्ठ, विषयों से सदा विरत रहते।
सब भूतों में समभाव रहूँ, मेरी वे पराभक्ति पाते।। (54)

इस 'पराभक्ति' से जो अर्जुन! हैं तत्व–रूप मुझको जानें।
अद्वैत, अभय औ' अजर–अमर, वह मृत्यु रहित मुझको मानें।।

दोहा- ज्ञानी मुझको जानकर तत्वरूप से पार्थ।
होते मुझमें ही विलय, तुमसे कहूँ यथार्थ।। (55)

श्लोक 48 – धूम्र = धुआं। आवृत = ढका हुआ।
श्लोक 50 – नव = नौ।

मुझको ही पूर्ण समर्पित हो, अपने सब कर्म करे अर्पित।
वह मेरा कृपापात्र अर्जुन! अविनाशी पद पाता शाश्वत।। (56)

सब कर्म मुझे अर्पित करता, मुझमें ही सतत् चित्त धरता।
वह बुद्धि योग साधक अर्जुन! मेरा ही परमधाम पाता।। (57)

जो मुझमें चित्त धरे अर्जुन! वह अनायास तर जायेगा।
जो मेरे वचन नकारेगा, वह दम्भी खुद मिट जायेगा।। (58)

यह युद्ध न करने का निश्चय, है अहंकारवश मिथ्या है।
रण को कर देगा विवश तुझे, क्षत्रिय स्वभाव ही तेरा है।। (59)

जो कर्म मोहवश होकर तू, करने का इच्छुक नहीं, पार्थ!
आबद्ध स्वभावज कर्मो से, हो विवश करेगा उन्हें, पार्थ।। (60)

शरीरस्थ सभी भूतो में है, वह परमेश्वर अर्न्तयामी।
हृदयस्थ वही निज माया से, भटकाता वह सबका स्वामी।। (61)

उस ईश–शरण का आश्रय लो, वह परम आत्मा है, अर्जुन!
है कृपा शान्तिप्रद उसकी ही, पाओगे परमधाम, अर्जुन।। (62)

मैने यह गुप्त, अत्यधिक गुप्त, जो ज्ञान तुम्हें बतलाया है।
चिन्तन कर इच्छित कार्य करो, करणीय मार्ग समझाया है।। (63)

गोपन तथ्यों से अति गोपन, वह तथ्य तुझे बतलाता हूँ।
तू अतिशय प्रिय है मुझे पार्थ! हितकारक वचन सुनाता हूँ।। (64)

सच्चिदानन्द धन परम आत्म, औ' मैं वासुदेव भी हूँ, अर्जुन!
रख प्रेम गहन अविरल मुझमें, बन स्थिर मन वाला, अर्जुन।।

अतिशय श्रद्धा औ' भक्ति सहित, मेरा गुणगान करो, अर्जुन!
निष्काम भाव से नाम जपो, गुण–श्रवण, कीर्तन कर, अर्जुन।।

मन से, वाणी से, निज तन से, अर्पण सर्वस्व करो मुझको।
अतिशय श्रद्धा औ' प्रेम सहित, पूजन से प्राप्त करो सुख को।।

कौन्तेय! विनय के भाव सहित, तुम निशिदिन मुझको नमन करो।
अतिप्रिय सखा हो तुम मेरे, कर प्राप्त मुझी को, रमण करो।।(65)

कर्मो का आश्रय त्याग पार्थ! कर प्राप्त अनन्य शरण मेरी।
सब पापों से मैं मुक्त करूँ, तू शोक त्याग, ले रति मेरी।। (66)

जो निहित रहस्य हैं गीता में, तेरे हित मैने बतलाये।
वह है अपात्र को ग्राह्य नहीं, तू पात्र तुझी को समझाये।।

जो रहित भक्ति–तप से प्राणी, उस को बतलाना उचित नहीं।
है इच्छुक नहीं श्रवण का जो, औचित्य कथन का तनिक नहीं।।

जो निन्दा करता है मेरी, वह कभी सुपात्र नहीं होता।
उसको रहस्य का बतलाना, किंचित भी उचित नहीं होता।। (67)

जो पुरुष परम प्रेमी मेरा, भक्तों में गीता–गान करे।
बतलाकर गूढ़ तथ्य अर्जुन, निश्चय वह मुझको प्राप्त करे।। (68)

अर्जुन – **दोहा**– ज्ञान ध्यान से रहित जो, प्रभु उसका उद्धार।
है संभव किस भांति से, व्यक्त करें सुविचार।।

श्री कृष्ण – अतिशय प्रिय है वह मुझे पार्थ! यह श्रेष्ठ कार्य करने वाला।
दूसरा न होगा इतना प्रिय, इस धरती पर रहने वाला।। (69)

हम दोनों में संवाद रूप, गीता का निशिदिन पाठ करे।
है धर्म निरत वह पुरुष पार्थ! निर्दिष्ट ज्ञान को ग्रहण करे।।

मैं उसके ज्ञानयज्ञ द्वारा, पूजित हो जाऊँगा, अर्जुन!
है ग्राह्य मुझे वह धर्मनिष्ठ, हर्षित हो जाऊँगा, अर्जुन।। (70)

श्लोक 65 – रमण = रति, प्रेम।

निर्दोष दृष्टि, श्रद्धालु पुरुष, पावन–गीता का श्रवण करें।
हे अर्जुन! पाप मुक्त होकर, वह श्रेष्ठ लोक को गमन करे।। (71)

क्या पार्थ! शास्त्र तुमने मुझसे, एकाग्र–चित्त से श्रवण किया।
क्या मोह, मूढ़ता नष्ट हुई, क्या व्यक्त तथ्य का मनन किया।।(72)

अर्जुन – अब नष्ट हुआ है मोह कृष्ण! है हुई प्राप्त स्मृति मुझको।
मैं आज्ञा–पालन को तत्पर, है लेश नहीं संशय मुझको।।

यह कृपा आपकी है अच्युत! मैं मोह पाश से मुक्त हुआ।
होकर संशय से रहित प्रभो, यह चित्त ज्ञान से युक्त हुआ।। (73)

संजय – संजय बोला, ऋषि व्यास–कृपा, से दिव्य दृष्टि पाकर मैने।
श्री कृष्ण, महात्मा–अर्जुन का, संवाद सुना–देखा मैने।। (74)

यह परम गूढ़, अद्‌भुत, अतिशय, रोमांचक परम योग राजन्।
है सुना कृष्ण के ही मुख से, है नहीं अन्य कोई साधन।। (75)

स्मरण–व्याप्त संवाद गहन, है बार–बार हर्षित करता।
अति अद्‌भुत यह मंगलकारी, है सुखद बहुत मुझको लगता।।(76)

है देखा हरि का रूप नृपति, अद्‌भुत है विस्मयकारी है।
आता स्मृति में बार–बार, वह रूप बहुत सुखकारी है।। (77)

योगेश्वर कृष्ण जहां भी हों, औ' वही धनुर्धारी अर्जुन।
है वहीं विजयश्री–अचल नीति, दृढ़ मत मेरा है यह राजन्।।(श्लोक–78)

❖

ॐ

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

आरती

आरती श्री भगवद्गीता की, सत्य सनातन 'हरि–प्रियता' की। .... **टेक**

गावत व्यास ऋषि, मुनि, ज्ञानी, योगी निष्कामी और ध्यानी।
दिव्य–ज्ञान, प्रभु श्री मुखवाणी, सकल विश्व प्राणी कल्याणी।।
आरती श्री ....

मानव–जीवन लक्ष्य बताती, सकल विश्व प्राणी कल्याणी।
मोह और अज्ञान मिटाती, मानव को सत्पथ दिखलाती।।
आरती श्री ....

भेद–भाव आसक्ति मिटाती, दया, धर्म हिय मे उपजाती।
शरणागत के कष्ट मिटा कर, दया–सुधा अविरल बरसाती।।

आरती श्री भगवद्गीता की, सत्य सनातन 'हरि–प्रियता' की।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

("सब धर्मों को अर्थात सांसरिक आश्रयों, सहारों को त्यागकर
केवल मुझ परमात्मा की शरण ग्रहण करो,
मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा
(छुड़ा दूँगा) तुम शोक मत करो।")
— **भगवान श्रीकृष्ण**

ॐ



कृतिकार

सत्य प्रकाश सक्सेना

बी.ए., एल.एल.बी., पी.पी.एस. (अवकाश प्राप्त)
(महामहिम राष्ट्रपति, भारत सरकार द्वारा दीर्घ
सराहनीय सेवाओं के लिए पुलिस पदक से पुरुस्कृत)
पुत्र स्व० श्री लाल बहादुर सक्सेना
मूल निवास : ग्राम मिहौना, डा. संजरपुर, जिला बदायूँ (उ.प्र.)
पता : चन्द्रलता कुटी, 529क/756 गुलशन एन्कलेव,
निकट राजा टेन्ट हाउस, खुर्रम नगर, लखनऊ (उ.प्र.)
सम्पर्क : 5932002233

साहित्यिक लेखन :
स्थानीय पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित छिटपुट सामयिक रचनायें।
प्रथम पुस्तक - "जन-जन गीता" आपके हाथों में